॥ श्रीः ॥

भूमिका



यह यज्ञविज्ञान विभाग की यज्ञविज्ञान पद्धति का प्रथम **यज्ञसरस्वती** नामक ग्रन्थ पूज्य पिताजी ने बड़े परिश्रम से याज्ञिक विषयों पर लिखा है ।

इस सन्दर्भ के दो भाग हैं—प्रथम **सोमकाण्ड** इष्टि से लेकर राजसूययज्ञ तक के यज्ञों की पद्धति सरल रीति से बताई गई है और कर्मों मे आये हुए मन्त्रों की व्याख्या भी दी गई है ।

शुक्ल यजु:संहिता मे मन्त्रों का वही क्रम है जिस क्रमसे कि उनका यज्ञों में प्रयोग होता है। अत: इस ग्रन्थ को एक प्रकार से शुक्ल यजु:संहिता का भाष्य कहा जा सकता है ।

द्वितीय **अग्निचयन काण्ड** में चयन विद्या और उसकी पद्धति एवं चितियों का निर्माण सादा तथा रङ्गीन नकशों सहित बड़ी सुन्दरता से बताया गया है ।

बहुतसे कर्मकाण्ड के उच्चकोटि के विद्वानों का ऐसा कुछ विश्वास था कि पूज्य पिताजी वेद के कुछ मन्त्रों से इधर उधर के विज्ञान ही निकाला करते थे, वेद के मुख्य प्रतिपाद्य विषय यज्ञविद्या में उनका वैसा प्रखर पाण्डित्य नहीं था सो आशा है कि उन महानुभावों को यह ग्रन्थ देखकर अपने विचार अवश्य बदलने होंगे क्योंकि यह ग्रन्थ कर्मकाण्ड के अन्तरङ्ग विषयों का विस्तारसे प्रतिपादक है। आशा है याज्ञिक विषयों में रुचि रखनेवाला विद्वत् समाज इससे पूर्ण लाभान्वित होगा ।

ऊपर कहे हुए दो काण्डों के अतिरिक्त तृतीय **खिलकाण्ड** और चतुर्थ **ऊपरिकाण्ड** लिखने का पूज्य पिताजी का विचार था जिससे कि यजुर्वेद संहिता का पूरा भाष्य होजाता परन्तु अत्यन्त खेदका विषय है कि दैवदुर्योग से इन दोनों काण्डों के प्रारम्भ करने से पूर्व ही वे इस असार संसार को छोड़ गये। केवल उन दोनों काण्डों की संक्षिप्त सूची उनने लिख दी थी जिसको विषय सूची के साथ मुद्रित करदी गई है ।

यद्यपि वेद संहिताओं के मन्त्र स्वर सहित लिखने का ही शिष्ट संप्रदाय है किन्तु यहां के यन्त्रालयों में स्वर लगाने की सुविधा न होने से विवश बिना स्वर के ही मन्त्र छपाने पड़े हैं। प्रकृतग्रन्थ कर्मकाण्डोपयोगी है और यज्ञोंमें स्वर का उपयोग प्राय: नहीं होता इसलिये बिना स्वर के छपने में भी कोई विशेष त्रुटि नहीं समझी जायगी ।

इस पुस्तक के शोधन में यथा शक्ति प्रयास किया गया है और एक शुद्धिपत्र ग्रन्थके अन्त में लगा दिया गया है फिर भी प्रेसके कर्मचारी इधर ऐसे पटु नहीं मिलते इसलिये मुद्रण शुद्धि बहुत कुछ रह जाना सम्भव है। आशा है अभिज्ञ विद्वान् स्वयं शोधन करलेने की उदारता करेंगे ।

इस ग्रन्थके प्रकाशन का सर्वश्रेय श्रीमान् अलवरेन्द्र महाराज को ही है। उनही की कृपापूर्ण सहायता का फल है कि यह ग्रन्थ सर्वाङ्ग सुन्दर तैयार होकर विद्वत् समाज के सम्मुख रक्खा गया है।

श्रीमान् अलवरेन्द्र महाराज श्री १०८ श्री सवाई तेजसिंहजीबहादुर-

पक्के सनातनधर्मावलम्बी साथ ही बहुत विशेष विद्यानुरागी भी हैं। श्रीमान् प्रायः नित्य ही कुछ समय देवाराधन तथा शास्त्रीय गूढ़ तत्त्वावधान में लगाते हैं। श्रीमान मे अलौकिक गुण तो यह है कि इस युग में इस युवावस्था और इतने बड़े ऐश्वर्य एवं प्रभुत्व होते हुए भी किसी प्रकार का व्यसन नहीं है। खास कर जिस प्रकार क्षत्रियों में मद्य तथा धूम्रपान थोड़ा या बहुत एक सामान्य और स्वाभाविक हुआ करता है उससे भी आपको एक प्रकार घृणासी है, यहां तक कि आपकी यह कड़ी आज्ञा है कि अपने परिकर (Personal staff) में कोई भी मद्यपी नहीं रक्खा जाय। श्रीमान् का एक नारी ब्रह्मचारी का दृढ़ सकल्प भी सराहनीय है। महाराज का रहन सहन आदि सब कुछ बहुत सादगी का है, मिलनसारी तो इतनी बढ़ी हुई है कि आप तक पहुँचने के लिए गरीब प्रजा को भी किसी प्रकार की हील हुज्जत में नहीं जाना पड़ता है। सबसे बड़े प्रेम से मिलते हैं और यथा योग्य समुचित वर्ताव करते हैं। आपका हृदय सर्वदा दयार्द्र रहता है।

यह अवश्य स्मरण रहै कि जैसा प्रायः श्रीमानों के लिये प्रशसा के रूपमें ऐसी बातें कही या लिखी जाया करती हैं वह बात यहां नहीं है, जो कुछ लिखा गया है वह अक्षरशः सत्य है अतः यथार्थ में इन सब अलौकिक गुणोंसे विभूषित श्रीमान् इस युग के एक आदर्शनृपति हैं और यह आदि से ही ईश्वरदत्त श्रीमान् में स्वाभाविक अद्भुत विलक्षणता है। इत्यादि आपके सद्गुणों का यदि पूर्णरीत्या विवरण लिखा जाय तो वह भी एक अलग ग्रन्थ तैयार हो सकता है, यह तो सक्षेप में कुछ दिग्दर्शन मात्र करादिया गया है।

श्रीमान् की पूज्य पिताजी पर पूर्ण भक्ति और श्रद्धा थी। आपने यज्ञोपवीत में उनसे ही गुरु दीक्षा ली थी। राज्याधिकार प्राप्ति के अनन्तर ही आपने स सम्मान उन्हें अलवर बुलाकर राजगुरु पदोचित प्रतिष्ठा सादर अर्पण की। उनके ग्रन्थों के विषय से भी आप पूर्ण परिचित हैं और इन ग्रन्थों का शीघ्र प्रकाशन हो इसके लिये पूर्ण उत्साह रखते हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन तो श्रीमान् की सहायता से हो ही चुका है आगे भी आपसे बहुत कुछ भरोसा है।

इन पंक्तियों के लेखक पर तो श्रीमान् की बड़ी सहानुभूति रहती है, सतत अपने स्मरण में रखने की अनुकम्पा किया करते हैं श्रीमान् की जैसी असीम कृपा है उसके लिये यह जन इतना कृतज्ञ है कि उस कृतज्ञता के प्रकाशन के लिये शब्द नहीं है।

जगन्नियन्ता जगदीश्वर से यही हार्दिक प्रार्थना है कि ऐसे सनातनधर्म प्रतिपालक आदर्शनृपति को सकुटुम्ब चिरायु करें इनका प्रताप, ऐश्वर्य और यश दिन दिन बढ़कर दिगन्त व्यापी हो ॥ शुभम् ॥

जयपुर सिटी
१-९-४६

प्रद्युम्नशर्म्माओझा।



वेदविद्यासमुद्धारकस्वर्गीयपण्डितमधुसूदनशर्म्ममैथिलाः

❀ श्रीः ❀

यज्ञसरस्वती ग्रन्थस्य विषयतालिका प्रदर्श्यंते

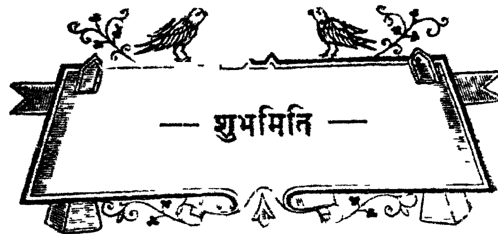
विषय	पृष्ठ

सोमकाण्डम् (प्रथमकाण्डम्) (हविर्यज्ञे)

प्रथममण्डलम्

विषय	पृष्ठ

विषय	पृष्ठ


— शुभमिति —

अत्रज्ञान सौकर्य्यार्थं कर्म्मणां तालिका प्रदर्श्यते ।

१—प्राक् सौमिकः ।

१-हौत्राधान मण्डलम् हविर्यज्ञमण्डलम् ।

१	आधानाधिकारः	हविर्यज्ञः		
२	अग्निहोत्राधिकारः	,,	दैनिक पर्वद्वय यागः	५३
३	दर्शपूर्णमासाधिकारः	,,	मासिक पर्वद्वय याग	५६
४	पिण्डपितृयज्ञाधिकार.	,,	सांवत्सरिक पर्वत्रय याग	
५	चातुर्मास्याधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वत्रय याग	२१
				१३२.
६	आग्रयणाधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वत्रय यागः	
७	पशुबन्धाधिकारः	,,	सांवत्सरिक पर्वद्वय याग	

२—सोमयागः ।

ज्यौतिष्टोमिक मण्डलम (३।४ काण्डम)

२-स्तोमायन मण्डलम् महायज्ञमण्डल् ।

१	अग्निष्टोमाधिकारः	महायज्ञः	एकाह प्रकृति यागः	१६७
२	षोडशिस्तोमाधिकारः	,,	एकाह विकृति यागः	५
३	द्वादशाहधिकारः	,,	अहीन प्रकृति यागः	३
४	गवामयन सत्राधिकारः	,,	सत्र प्रकृति यागः	९३
५	प्रायश्चित्ताधिकारः	,,	विलिष्ट शुद्धि यागः	१०
				२२८

वाजराज मण्डलम् (५ काण्डम्)

वाजराज मण्डलम् अतियज्ञ मण्डलम् ।

१ वाजपेयाधिकारः	अतियज्ञः	३४
२ राजसूयाधिकारः	,,	३६
३ चरक सौत्रामणीयागाधिकारः	,,	४
		७४

इति पञ्चदशाधिकारः सोमकाण्डः प्रथमः तत्र संहितादशाध्यायी समाम्नाता पञ्चत्रिंशानि चत्वारिंशतानि (४३५) यजुर्मन्त्राः ।

३—अग्निः—चयन मण्डलम् ।

४-चितिस्तंचिति मण्डलम् अग्निमण्डलम् ।

१ अग्निचित्याधिकारः	(गार्हपत्य-नैर्ऋत्य आहवनीयेति प्रकरण त्रयोपेतः)	३५४
२ शतरुद्रियायागाधिकारः		६६
३ सचितियागाधिकारः		१७६
		५९६

इति त्र्यधिकारोऽग्निकाण्डो द्वितीयः । तत्र संहिताष्टाध्यायी सामाम्नाताः पण्णवत्यधिकानि पञ्चशतानि (५९६) यजुर्मन्त्राः ।

४—खिल यागः ।

५—सुरामेधमण्डलम् खिलमण्डलम् ।

१ सौत्रामणीयागाधिकार	१९—२१ = त्रयोध्यायाः	२४६

२ अश्वमेधाधिकारः	२२-२५ = चत्वारोऽध्यायाः	१८६
		४३२

इति द्व्यधिकारः खिलकाण्डस्तृतीयः तत्र सहितासप्ताध्यायी समाम्नाना। द्वात्रिंशदधिकानि चत्वारिशतानि (४३२) यजुर्मन्त्रा ।

५—परिशिष्ट यागः ।

६-परिशिष्ट मेध मण्डलम्।

१ खिल्याधिकारः	३६
२ चयन परिशिष्टाधिकारः	४५
३ सौत्रामणी परिशिष्टाधिकारः	४६
इति त्रीणि परिशिष्ट प्रकरणानि ।	१२७
४ अश्वमेधाधिकारः	६०
५ पुरुषमेधाधिकारः	४४
६ सर्व मेधाधिकारः	११३
७ ब्रह्मयज्ञाधिकारः	५८
८ पितृमेधाधिकारः	२२
इति पञ्चमेध प्रकरणानि ।	२९७
९ शान्ति करणाधिकारः	२४
१० महावीरोपासनाधिकारः	४९
११ प्रायश्चित्ताधिकारः	१३
१२ औपनिषदाधिकारः	१७
इति चत्वारि प्रकीर्णक प्रकरणानि ।	१०३

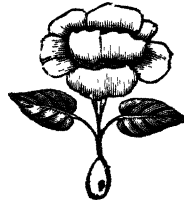
इति द्वादशाधिकार उपरिकाण्ड श्चतुर्थः । तत्र सहिता पञ्चदशाध्यायी सामाम्नाना । सप्तदशाधिकानि पञ्चशतानि (५१७) यजुर्मन्त्रा. । तदित्थ काण्ड चतुष्टये अशीत्यधिकानि ऊनविंशतिशतानि

(१९८०) (१९७६) यजुर्मन्त्राणां सन्निविशन्ते । तदित्थं यजुर्वेदसंहितायां मन्त्राणां चत्वारिंशद् अध्यायाः संभवन्ति । तत्रादितो दशाध्यायाः सोमकाण्डः प्रथमः ॥ १ ॥ ततोऽष्टाध्यायाग्निकाण्डो द्वितीयः ॥ २ ॥ ततः सप्ताध्यायाः खिलकाण्डस्तृतीयः ॥ ३ ॥ ततः पञ्चदशाध्याया उपरिकाण्डश्चतुर्थः । (१०-१८-२५-४० = ४०)

६—उपनिषत् ।

औपनिषदं ज्ञानतन्त्रं षष्ठम् ॥ ६ ॥ प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या इत्यादेशः ॥

※ इति यज्ञ सरस्वती विषयतालिका सम्पूर्णा ※





❀ अथ यज्ञसरस्वती ❀

: प्रारभ्यते :



यो यज्ञैर्विविधैर्विश्वं सृष्ट्वा जीवयते चिरम् ।
तं यज्ञपुरुषं विद्याश्रद्धाभ्यामाश्रये श्रिये ॥१॥
धर्म्मे सदसती नित्ये सत्यमेकात्मता तयोः ।
सत्या देवा देवतानां यज्ञः संगमनं मिथः ॥२॥
यज्ञस्यारम्भणं सत्यं ब्रह्मा सत्यभृदक्षरः ।
विष्णोर्यज्ञभृतो जज्ञे भूतं तद्भूतभृच्छिवः ॥३॥
यस्त्रिमूर्तिः प्रभुर्विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।
तं यज्ञपुरुषं विद्याकर्म्मभ्यामीश्वरं श्रयेत् ॥४॥
अग्नौ सोमाहुतिः सोमयज्ञोऽग्नावग्निताश्रितिः ।
इत्थं सत्यद्वयारब्धो द्विविधो यज्ञ इष्यते ॥५॥
हविर्ग्रहो वाज--राज—पशवश्चेति पञ्चधा ।
सोमोऽस्त्यतः सोमयज्ञः पाङ्क्तो विष्णुः स देवभृत् ॥६॥
त्रयो लोका द्वौ च सन्धी इति पञ्चाग्नयाश्रिताः ।
पाङ्क्तोऽग्नियज्ञः स शिवो भूतभृत् पशुभृच्च सः ॥७॥

मनोवाक्प्राणतन्त्रायी ब्रह्मा सत्यः प्रजापतिः ।
मनसा वचसा प्राणैः सृष्टिं सृजति यज्ञतः ॥८॥
"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्ट कामधुक् ॥"

—भगवद्गीता

देवानां संगतिकरणं यज्ञः । "अग्निः सोमः सर्वा देवताः"। लोकत्रयभेदेनाग्नेस्त्रैविध्यमस्तीत्यग्नित्रयसंबद्धास्त्रयो वेदाः। भूलोके तावदग्निमय ऋग्वेदः। अन्तरिक्षे वायुमयो यजुर्वेदः। दिव्यादित्यमयः सामवेदः। "अस्ति वै चतुर्थो देवलोक आपः", तेनाप्सु सोममयोऽथर्ववेदश्चतुर्थः। ते चामी चत्वारो वेदा अग्नेः प्रोत्क्रमणस्वाभाव्यात् सहस्रधा विभक्ता भवन्ति। तथा हि—अबग्निवाय्वादित्यमयवेदचतुष्टयलक्षणानामथर्वप्रथमानां वाङ्मयप्राणानामेषामेकैके दशधा विभक्ताः सन्तः पुनरेकैके दशधा विभक्ताः शतं भवन्ति । पुनरेकैके दशधा विभक्ताः सहस्रधा भवन्ति। तथा चैते चातुर्विध्यलक्षणा वाङ्मयप्राणा इमे सहस्रमंशवः सूर्य्यस्योपपद्यन्ते । ते चैषां प्राजापत्यानां चतुर्णां वेदानां सहस्रधा विभागाः शाखाशब्देनाख्यायन्ते। देवतानां त्वेते महिमानो भवन्ति। अत एवाह—

"सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत् ।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्" ॥इति॥

(ऋ० १०, १०, ११४, ८)

सूर्य्यज्योतिर्लक्षणपरब्रह्मविधवाक्प्रपञ्चे तावदित्थं शाखाविभाग आख्यातः। तमेतमर्थं तथा प्रत्याययितुं शास्त्रग्रन्थलक्षणशब्दविधवाक्प्रपञ्चेऽपि तथैव शाखाविभागं कल्पयन्ति। नवधाऽथर्वणोवेदः। एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्। एकशतमध्वर्य्यु शाखाः। सहस्रवर्त्मा सामवेद इति। तथा च—तत्र यजुर्वेदस्यैकशतशाखासु पञ्चाशीतिः कृष्णाः, षोडश तु शुक्ला इष्यन्ते। तत्र शुक्लासु पञ्चदशी शाखा माध्यन्दिनीया भवति। तस्याः संहितायां चत्वारिंशदध्यायाः, तेषु चतुर्विंशत्यूने द्वे सहस्रे (१९७६) मन्त्रा व्यवतिष्ठन्ते। मन्त्राणां स्वरूपविभागे मतवैषम्यादिह संख्या क्वचिदन्यथापीष्यते। मन्त्रांशाः पुनरन्यथा विविच्यन्ते—इति विज्ञेयम्।

अथैतेषु चत्वारिंशदध्यायेषु दशाध्यायाः (१-१०) सोमयज्ञविभागः। तेषु हविर्यज्ञानां महायज्ञानामतियज्ञानाञ्च संहृत्य त्रिंशं शतचतुष्टयं च (४३०) मन्त्राः प्रदर्श्यन्ते। ततोऽष्टावध्याया अग्निचयनविभागः। तत्र चतुरूनानि षट्शतानि मन्त्राः (५९६)। ततः (११-१८)ऊर्ध्वं

सप्ताध्यायाः (१९–२५) खिलविभागः। तत्र त्रयस्त्रिंशं शतचतुष्टयं च ४३३ मन्त्राः। ततश्चतुर्दशाध्यायाः (२६–३९) परिशिष्टविभागः। तत्र पञ्च शतानि मन्त्राः (५००)। अनारभ्याधीतं खिलम्। आरभ्याधीतं परिशिष्टम्। एतानि कर्म्मप्रकरणानि। अथैकः पुनरन्त्योऽध्यायः (४०) उपनिषद्विभागः। तदिदं ज्ञानप्रकरणं, तत्र सप्तदश मन्त्राः। तदित्थं कर्म्मप्रकरणज्ञानप्रकरणाभ्यामीश्वरस्य यजनं विज्ञानं चोपदिशत्येष यजुर्वेदः॥

ज्ञानं कर्म्म च विश्वस्य रूपं विश्वेश्वरस्य च॥

"सर्वं कर्म्माखिलं पार्थ! ज्ञाने परिसमाप्यते।"

—भगवद्गीता

॥ अथ दर्शपौर्णमासाधिकारः॥

दर्शपूर्णमासे प्रथमं दर्शेष्टिर्विधीयते। तत्र त्रीणि हवींषि—आग्नेयोऽष्टाकपालः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयः—इति॥ तथा चेदं दधि प्रतिपदि होतुममायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः। तत्र च वत्साः स्वमातृभ्यः पलाशदण्डेनापाक्रियन्ते। तदर्थं पलाशशाखां मन्त्रेणाच्छिनत्ति, तत्राच्छेद्यां शाखामामन्त्रयति–हे शाखे!

इषे त्वा। ऊर्जे त्वा (अ०।१।मं०।१।)

छिनद्मीति शेषाध्याहारेणैकं विनियोगमाह बौधायनः। आपस्तम्बस्तु मन्त्रभेदेन "इषे त्वा" इत्याछिनत्ति। "ऊर्जे त्वा" इति संनमयत्यनुमार्ष्टि वा इत्याह। संनमनमृजूकरणम्। संलग्नधूल्यादीनामानुलोम्येनापनयनमनुमार्जनम्।

फलसंपत्तिमपेक्षमाणः साधनसंपत्तिमपेक्षते लोकः। साधनं प्रयुज्यमानमव्यभिचारेण फलाय संपद्यते। ते हीमे साधनफले इडूर्क्शब्दाभ्यां लक्ष्येते। इडन्नरसः। यस्तु भुक्तादन्नाद् बलहेतू रसः परिणमते स ऊर्ग् रसः। "इषे त्वेति वृष्ट्यै तदाह। ऊर्जे त्वेति यो वृष्टादूर्ग् रसो जायते तस्मै तदाह।" (श० १।४।२)। एवं सर्वत्र भाव्यम्। तेन देवान्नदध्यर्थं तस्य देवस्य बलप्रदरसार्थं च त्वामाच्छिनद्मीति च्छिद्यमानां पलाशशाखां प्रार्थयते। यजमानस्य च यज्ञसंपत्तिद्वारा तदिषे तदूर्जे च त्वां छिनद्मीत्याह। "इषमेवोर्जं यजमाने दधाति"। (तै० ब्रा० ३।२।१) "यं कामयेत— अपशुः स्यादिति, अपर्णां तस्मै शुष्काग्रामाहरेत्। अपशुरेव भवति। यं कामयेत पशुमान् स्यादिति, बहुपर्णां तस्मै बहुशाखामाहरेत्।

पशुमन्तमेवैनं करोति । यत् प्राचीमाहरेत्—देवलोकमभिजयेत् । यदुदीचीं—मनुष्यलोकम् । प्राचीमुदीचीमाहरति—उभयोर्लोकयोरभिजित्यै ।" (तै० ब्रा० ३ । २ । १) ॥ "तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णमच्छिद्यत । तत् पर्णोऽभवत्" ॥ "गायत्रो वै पर्णः । गायत्राः पशवः । तस्मात् त्रीणि त्रीणि पर्णस्य पलाशानि । त्रिपदा गायत्री । यत् पर्णशाखया गाः प्रार्पयति स्वयैवैना देवतया प्रार्पयति—" (तै० ब्रा० ३ कां २ प्र० १ अ०) इति हि ब्राह्मणश्रुतिः । पलाशस्य गायत्रीत्वमुक्त्वा गायत्रीरूपाया गोस्ताडनकर्मणि विनियोग-मुपपादयति । न हि स्वा देवता स्वं हिनस्ति—इति । अपि च श्रूयते—"यत्र वै गायत्री सोम-मच्छा पतत् । तदस्या आहरन्त्या अपादस्ताभ्यायत्य पर्णं प्रचिच्छेद—गायत्र्यै वा सोमस्य वा राज्ञः । तत् पतित्वा पर्णोऽभवत् । तस्मात् पर्णो नाम । तद् यदेवात्र सोमस्य न्यक्तं तदिहाप्य-सदिति—तस्मात् पर्णशाखया वत्सानपाकरोति ।" श० १ । ७ । १ ।) इति ।

मातृभिर्वत्सान् समवार्जन्ति । स वत्सं शाखयोपस्पृशति । हे वत्साः ! यूयम्—

वायवःस्थ । १ । १ ।

मातृभ्योऽन्यत्र गन्तारो भवत । "अयं वै वायुर्योऽयं पवते । एष वा इदं सर्वं प्राप्याययति यदिदं किञ्च वर्षति । एष वा एतासां प्राप्याययिता ।" (शत० १ । ७ । १ ।) इति वाजिश्रुतिः । "वायुर्वा अन्तरिक्षस्याध्यक्षः । अन्तरिक्षदेवत्याः खलु वै पशवः । प्रवा एनानेतदाकरोति । वायव एवैनान् परिददाति ।" (तै० ब्रा० ३ । २ । १ ।) इति च तित्तिरिश्रुतिः । अपि च ब्रूमः । पुरुषसूक्तोक्तविज्ञानानुसाराद् वैश्वानरपुरुषैकपादाद् विराट्पुरुषोऽभवत् । ततोऽधिवै-राजः पुरुषः । स एष सर्वहुद् यज्ञः । ततः संभृतात् पृषदाज्यात् पुरुषाश्वगवाव्यजाः पञ्च पशवोऽजायन्त । तत्र "पशूंस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये" इति श्रुतेस्तेभ्यो दिव्यपशुभ्य एवैते लोके ग्राम्यारण्याः पशवोऽजायन्त । ते च वायव्या वायुप्राणाः । यादसां जलेनेवैतेषां स्थलचराणां वायुनैव निश्वासप्रश्वासाभ्यां जीवनाधानात् । तथा चाघ्न्यानां गवां वाय्वात्मकत्वादाह—वायवः स्थेति ।

अथ गवामेकां वत्सेन व्याकृत्य शाखयोपस्पृशति । हे गावः !

"देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय
कर्म्मणे, आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय
भागं प्रजावतीरनमीवा अयक्ष्माः ॥

मा वस्तेन ईशत, माघशंसो
ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीः ॥१॥ १ । १ ।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म" (१ । ७ । १ । ५ ।) इति श्रुतेः यज्ञसिद्धये सर्वकर्म्मप्रवर्तकः सविता नाम देवो युष्मान् प्रवर्तयतु । हे अघ्न्या गावः ! यूयम्—इन्द्राय भागमाप्यायध्व-मिति—इन्द्रमुद्दिश्य संपादयिष्यमाणं सांनाय्यदधिहेतुक्षीरं प्रवर्धयध्वम् । यूयं खलु—बह्वपत्याः कृमिजनितसर्वरोगरहिताश्च स्थ ॥ युष्मानपहर्तुं चौरो वा घातकजन्तुर्व्याघ्रादिरपि वा समर्थो मा भूत् । अपितु गवां पत्यावस्मिन् यजमाने नित्यं वर्तमाना बहुविधाः यूयं भवत—इत्येवं गा अभिमन्त्रयेत् । तथा सति गोसम्बन्धि दधिरूपं हविरैन्द्रं माहेन्द्रं वा भवतीति विद्यात् ॥

अथाग्न्यागारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगूहति । हे पलाशशाखे ! त्वम्

"यजमानस्य पशून् पाहि" । १ । १ ।

उन्नतप्रदेशे स्थित्वा प्रतीक्षमाणा सती यजमानस्य पशूनरण्ये संचरतः चोरव्याघ्रादि भयाद्रक्ष—इत्याशंसति । (५) ॥ १ ॥

ततोऽस्यां पर्णशाखायां द्वौ कुशौ कुशत्रयं वा बध्नीयात् ॥ हे *त्रिकुश !

वसोः पवित्रमसि १ । २ ।

'यज्ञो वै वसुः (१-७-१-६) यज्ञस्य पवित्रमसि । अत्र यज्ञीयहविर्द्रव्यरूपं क्षीरं लक्ष्यते । वसोः क्षीरस्य शोधकं त्वमसि—इत्याह ॥

ततः सांनाय्यतपनीं पयोधारणार्थामुखां नाम स्थालीमाददानोऽभिमन्त्रयते । हे उखे स्थालि ?

द्यौरसि पृथिव्यसि ॥२॥ १ । २ ।

मातरिश्वनो घर्मोऽसि ॥३॥ १ । २ ।

×विश्वधा असि ॥४॥ १ । २ ।

जघनेन गार्हपत्यमुपविश्य उपवेषण गार्हपत्यादुदीचोऽङ्गारान्निरुह्य तेषूखामधिश्रयञ्जपति—"द्यौरसि पृथिव्यसी" ति मन्त्रेण लोकद्वयरूपत्वमुखाया उक्तम् । मातरिश्वनो घर्मोऽसीत्यन्तरिक्षलोकरूपत्वमुच्यते । तदेवं त्रयाणां लोकानां धारणात्त्वम् ।

अातश्च हे उखे ? त्वम्—

परमेण धाम्ना दृंहस्व, माह्वाः, मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत् ॥ ५ ॥ १ । २ ।

---

* कुशत्रयेण प्राणापानौ व्यानश्च पवना अपेक्ष्यन्ते । × विश्वधाया—इति तित्तिरिपाठः ।

उत्तमेन स्थानेन त्वं दृढो भव, यतः पयो नावपतेत् । कौटिल्येन भङ्गो लक्ष्यते, भग्ना मा भव । यजमानो हि यथा भग्नाशो न स्याद् इत्याशंसति ॥२॥ (२)

अथोखायां पातयिष्यमाणे क्षीरे तृणपर्णाद्यपद्रव्यपतनप्रतिबन्धाय तावदुखायां प्रागग्रमुदगग्रं वा कुशास्तरणं कृत्वा तदन्तर्हितां क्षीरधारामत्र पातयेत् । तत्रैते स्थाल्यामास्तीर्णा कुशास्तावद् अभिमन्त्रयितव्याः । हे उखापवित्र ! त्वम्—

वसोः पवित्रमसि शतधारं ।

वसोः पवित्रमसि सहस्रधारम् ॥ १ ॥ १ । ३ ।

क्षीरेण सह स्थाल्यां पततां तृणपर्णाद्यपद्रव्याणां त्वया व्यवधानेन प्रतिबध्यमानत्वात् त्वं वसोः पयसः शोधकमसि । पवित्रोपरि बह्व्यो धाराः पतन्तीति पवित्रं शतधारं तावदुच्यते । अथैतस्मात् पवित्रात् पुनरधः सूक्ष्मैः पवित्रच्छिद्रैः स्थाल्यां पूर्वापेक्षयाप्याधिक्येन धाराः पतन्तीति सहस्रधारं कृत्वा पवित्रं स्तूयते । अभ्यासे हि भूयांसमर्थं मन्यन्ते—इति 'वसोः पवित्र' मिति द्विरुक्तिः ।

अथासिच्यमाने पयसि जपति । हे स्थाल्यां सिच्यमान क्षीर !—

"देवस्त्वा सविता पुनातु ।

वसोः पवित्रेण शतधारेण सुप्वा "१ । ३ ।

कर्मप्रेरयिता सविता देवः सम्यक्शोधकेन शतधारेण वसोः पवित्रेणानेन त्वां शोधयतु ।

एवमेकस्यां गवि दुग्धायां दोग्धारं प्रत्यध्वर्युः पृच्छेत् । हे दोग्धः ! विद्यमानानामासां गवां मध्ये त्वम्—

कामधुक्षः ? ॥१॥ १ । ३ ।

अथैवं पृष्टेन दोग्ध्रा अमूं गामित्युत्तरिते पुनरध्वर्युर्दोग्धारं प्रतिब्रूयात्—

सा विश्वायुः ॥ २ ॥ १ । ४ ।

इयं प्रथमा गौर्विश्वायुर्नाम दिव्या गौरस्तीत्यभेदेन भाव्यताम्—इति ।

एवमेव द्वितीयस्या गोर्दोहे कामधुक्षः? इत्यध्वर्युः पृष्ट्वा दोग्ध्रा चामूमित्युत्तरिते—

सा विश्वकर्म्मा ॥ ३ ॥ १ । ४ ।

इति निर्दिशेत् । एवमेव तृतीयस्याम् ॥

सा विश्वधायः । १ । ४ ।

इति ब्रूयात् ॥

एता एव तिस्रो गावो देवार्थे पयो दुहन्ति । 'इन्द्रः सर्वा देवता' स्ताभ्यो दोग्ध्री दिविष्ठा गौः । सा विश्वेष्वायुः प्रवर्तयति । तस्मात् सा विश्वायुः । अथ—'वायुः सर्वा देवताः' ताभ्यो दोग्ध्री गौरन्तरिक्षस्था । सा विश्वेषु अङ्गप्रत्यङ्गचेष्टां प्रवर्तयति । तस्मात् सा विश्वकर्म्मा । अथ—अग्निः सर्वा देवताः । ताभ्यो दोग्ध्री गौः पृथिवीस्था । सा विश्वेषु धारणशक्तिं प्रतिष्ठां प्रवर्तयति—तस्मात्सा विश्वधायाः । आयुश्चेष्टा प्रतिष्ठा एवैतासां पयांसि । अमूषां त्रिलोकी-धेनूनामेतास्वभेदं भावयति ॥

अथ क्वथितं क्षीरमग्नेरुद्वास्य मन्दोष्णे तस्मिन् प्रातःकालीनहोमावशिष्टेन दध्ना दधि-नष्पत्तये आतश्चनं कुर्य्यात् । हे क्षीर !—

"इन्द्रस्य त्वा भागं सोमेनातनच्मि" ॥ १ ॥ ४ ।

आतश्चनं—पयसः काठिन्येन दधिभावाय दध्ना संयोजनम् । यद्यप्यत्रातश्चनहेतुदधि-शेषो न साक्षात् सोमः, तथापि तस्मिन् सोमत्वमारोप्यते ।

अथैतस्य दध्यर्थनिहितक्षीरस्य रक्षार्थं यज्ञदेवतैव संबोध्य प्रार्थ्यते—

"विष्णो हव्यं रक्ष" । १ । ४ ।

"यज्ञो वै विष्णुः" । यज्ञदेवता विष्णुः ॥ ॥

॥ इति पूर्वाह्णे सांनाय्यसंपादनम् ॥

२–अथ व्रतोपायनम्

अन्तरेणाहवनीयश्च गार्हपत्यं च प्राङ् तिष्ठन् अप उपस्पृश्याग्निमीक्षमाणो व्रतमुपति—

"अग्ने ! व्रतपते ! व्रतं चरिष्यामि ।

तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" ॥ १ ॥ । ५ ।

हे यज्ञनियमाध्यक्ष, हे अग्ने ! अहं यज्ञकर्म्मानुष्ठास्यामि तत्कर्म्मानुष्ठातुमहं शक्तो भूयासम् । तन्मम कर्म्म निर्विघ्नं संपद्यताम् । ॥

अथापरमाह—

इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि ॥ १ । । ५ ।

"सत्यमेवदेवाः । अनृतं मनुष्याः" (शत० १ । १ । ४) इति श्रुतेरनृतं मानुषो भावः ।

सत्यं देवभावः । तदाह यदिमं यज्ञं कर्तुं प्रवृत्तोऽस्मि तदिदमहमेतस्मान्मर्त्यान्मनुष्यभावादुद्धृत्य सत्यं देवताभावं गच्छामि । मनुष्येभ्यो देवानुपावर्ते । इति भावः ॥ अतएव चानृतभाषणादुपरतः सत्यभाषणनियमं स्वीकरोमि । श्रूयते हि—"सत्यसंहिता वै देव अनृतसंहिता मनुष्याः" इति ।

अनयोरन्यतरेण व्रतमुपेयात् । उपवसथाहे गृहीतव्रतो—"नानृतं वदेत्" यथाशक्यं सत्यमेव वदेत् । "विचक्षणवतीं वाचं वदेत् । "चक्षुर्वै विचक्षणम् । एतद्धि मनुष्येषु सत्यं निहितं यच्चक्षुः । यत्र द्वौ विवदमाना वेयाताम्—अहमदर्शमहमश्रौषमिति । तयोर्य एवं ब्रूयादहमदर्शमिति—तत्रैव श्रद्दध्याम । चक्षुर्हिसत्यम् । तस्मात् यथा दृष्टं ब्रूयात् । सत्योत्तरा हैवास्य वागुदिता भवति ।" तदेकं व्रतम् । १ ।

"आरण्यमेवाश्नीयात्" । (शत० १ । १ । १०) अकृ[illegible]यम् । फलाहारी स्यात् । तदन्यद् व्रतम् । २ । "आहवनीयागारे गार्हपत्यागारे वा एतांरात्रिमधः शयीत ।" इत्यन्यद् व्रतम् । ३ ।

॥ इति व्रतोपायनम् ॥ २ ॥

३–अथ ब्रह्मवरणम्

अथ यजनीयाहे शाखान्तरीयेण मन्त्रेण ब्रह्माणं यजमानो वाऽध्वर्युर्वा वृणीते "भूपते ! भुवनपते महतो भूतस्य पते ! ब्रह्माणं त्वा वृणीमहे" ।

स वृतो जपति—

"अहं भूपतिरहं भुवनपतिरहं महतो भूतस्य पतिः ।
भूर्भुवर्देवसवितरेतत्वां वृणीते ब्रहस्पतिं बृह्माणम् ।
तदहं मनसे प्रब्रवीमि, मनो गायत्र्यै, गायत्री
त्रिष्टुभे, त्रिष्टुब् जगत्यै, जगत्यनुष्टुभे, अनुष्टुप्
प्रजापतये, प्रजापतिर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः, बृहस्पति–
र्देवानां ब्रह्मा, अहं मनुष्याणाम् । वाचस्पते यज्ञं
गोपाय, गोपायामि"—इति ॥

अपरेणाहवनीयं दक्षिणातिक्रम्य ब्रह्मसदनमीक्षते । स ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्यति । अपामुपस्पृशति । ब्रह्मसदने चाहवनीयाभिमुख उपविशति । स वाचं यच्छत्यानुयाजप्रसवाद् भागपरिहरणाद्वा । अथाध्वर्य्युश्च होता चैवं ब्रह्माणमनुज्ञाप्यैवातः स्वं स्वं कर्म्म कुर्यात् ॥

"ब्रह्मन्निदं कर्म्म करिष्यामि, तदनुजानीहीति"।

विज्ञप्तो ब्रह्मा सर्वत्र तत्तदनुज्ञापदमनुज्ञामन्त्रस्याद्यन्तयोः कृत्वा यथास्वरमनुजानाति ।

इति ब्रह्मवरणम् ॥ ३ ॥

४–अथ अपां प्रणयनम् ।

अथ प्रणीताः प्रणयन्नध्वर्युर्ब्रह्माणं यजमानं चाह—

"ब्रह्मन्नपः प्रणेष्यामि, यजमानं वाचं यच्छ इति ।"

स ब्रह्मा कुशोपग्रहः प्रणीताः प्रसौति, प्रणय यज्ञं देवता वर्द्धय त्वम् ।

"नाकस्य पृष्ठे स्वर्गलोके यजमानोऽस्तु । सप्तर्षीणां सुकृतां
यत्र लोकः—तत्रेमं यज्ञं यजमानं च धेहि, ओं भू-
र्भुवः स्वर्जन दों ३ प्रणय" ॥ इति ॥

इत्थमनुज्ञातोऽध्वर्युरप उत्सिच्य गार्हपत्यादुत्तरत आसादितास्ता आहवनीयादुत्तरतः प्रणयेत् । तत्राध्वर्य्युरात्मनः कर्तृत्वमपह्नूय देवकर्तृत्वं संभावयति । हे प्रणीतापात्र !

"कस्त्वा युनक्ति, स त्वा युनक्ति,
कस्मै त्वा युनक्ति, तस्मै त्वा युनक्ति"–इति ॥ १।६।

आहवनीयस्योत्तरतो निधानं योजनम् । अधिदैवतं दिव ऊर्ध्वमाप इमा यज्ञपुरुषेणैव यज्ञायैव प्रणीताः सन्ति । "यद्देवा अकुर्वंस्तत् करवाणी" त्यनुगमादिहाप्यग्नेरुत्तरत आपः प्रणीयन्ते इति नेह मनुष्येच्छा निमित्तमिति भावः ॥

"आपो ह्यस्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्म्मणे (ऐ०) श्रद्धामेवारभ्य यज्ञेन यजते । उभयेऽस्य देवमनुष्याः इष्टाय श्रद्दधते । यो वै श्रद्धामनारभ्य यज्ञेन यजते । नास्येष्टाय श्रद्दधते" ॥ (तै० सं० १।६।८) । ता अपः अग्नेर्नातिसंनिकर्षे नातिविप्रकर्षे संप्रत्यग्नेरुत्तरतः सादयेत् । नान्तरेण संचरेयुः ।

इति प्रणीतानामपां प्रणयनम् ॥ ४ ॥

५–अथ पात्रासादनम्

अथोत्तरेण गार्हपत्याहवनीयौ गार्हपत्यसंनिधौ दर्भान् संस्तीर्य्य तत्र द्वन्द्वं न्यञ्चि पात्राणि प्रयुनक्ति—दशापराणि दश पूर्वाणि । तत्रापराणि यज्ञायुधसंज्ञानि तावत्—शूर्पं चाग्निहोत्रहवणीं चेति द्वे, स्फ्यं कपालानि चेति द्वे, शम्या कृष्णाजिनं चेति द्वे, उलूखलमुसले, दृषदुपले—एषामेकैकं द्वन्द्वमादधानो मन्त्रयति ।

कर्म्मणे वाम् । वेषाय वाम् ॥ १।६।

यज्ञकर्म्मसिद्धये यज्ञस्वरूपसंपत्तये चाहं युवामाददे। अथ पूर्वाणि दश पात्राणि प्रयुनक्ति—स्रुवं[1], जुहूं[2], उपभृतं[3], ध्रुवामिति[4] । वेदं[5] पात्रीम्[6] आज्यस्थालीम्[7], प्राशित्रहरणम्[8], इडापात्रम्[9], प्रणीतापात्रम्[10]—इति । एतानि चोत्तरेणावशिष्टानि चतुर्विंशति पात्राणि सादयति—अन्वाहार्यस्थालीम्, अश्मानम्, उपवेषम्, द्वे पवित्रे, त्रीणि पवित्रच्छेदनानि, उपसर्जनपात्रीम्, मुष्टिम् वेदितृणम्, अभ्रिम्, योक्त्रसंनहनावच्छादनानि, परिधीन्, विधृत्यौ, पुरोडाशपात्र्यौ, होतृषदनम्, शृतावदानम्, औषधम्, प्राशित्रहरणे, अन्वाहार्यतन्दुलान्, अन्तर्धानकटकम्, पूर्णपात्रम्, समिधः, इध्मबर्हिषोरुपकल्पनम्, षडवत्तम्, प्रातर्दोहपात्राणि। अथ श्रपणस्य पश्चादुत्तरतो वा स्फ्योपहितायां पात्र्यामौषधकरणम् इति ।

अथ शूर्पाग्निहोत्रहवण्यादानानन्तरं वाचं यच्छत्यध्वर्युः उदकं स्पृष्ट्वा वाचंयम एव स पात्राणि प्रतपति—

"प्रत्युष्टं रक्षः, प्रत्युष्टा अरातयः ।
निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" १।७।

शूर्पादिषु निगूढानि रक्षांसि प्रतपनेनानेन दग्धानि, निःशेषेण संतप्तानि वा । यज्ञकर्मणि देयदानप्रतिबन्धका अप्यनेन प्रतपनेन दग्धा निःशेषेण संतप्ता वा । अनयोः प्रयोगे विकल्पः ।

इति पात्रासादनम् ॥ ५ ॥

६—अथ हविष्करणम् ।

हविः करणादि-पात्री निर्णेजनान्तमेकादशकर्म्मविधायकं—

पुरोडाशब्राह्मणम्

शालतः कौष्ठस्य कुम्भ्या भस्त्राया वा हविर्द्रव्याणि केचिदानयन्ति, तदयुक्तम् । ततो हविर्ग्रहणे यजुर्मन्त्रादर्शनात् । अनस एव गृह्णीयात् । व्रीहियुक्तमनो गार्हपत्याग्नेः पश्चिमतः स्थापयेत् । तदध्वर्युर्गच्छेत्—

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि ।१।७।

स्थाने स्थितोऽहमिदानीं हविर्द्रव्याण्यानेतुं विपुलमवकाशमनुगच्छामि । "स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" । सर्वात्मना तु युक्तो यज्ञः सार्वात्म्येन पर्य्याप्तमपूर्वं

जनयति। आतश्चैष प्राणेन गच्छन् मन्त्रं वाचयति। वागर्थानुभावनया तु परिमितं मनस्तत्र कर्म्मणि योजयति। सैषोपपत्तिः सर्वत्र मन्त्रप्रयोगे द्रष्टव्या।

अथानसो धुरमग्न्याधारभूतमभिमृशति—हे धुर्य्याग्ने!

धूरसि, धूर्व धूर्वन्तं, धूर्व तं—योऽस्मान् धूर्वति,
तं धूर्व—यं वयं धूर्वामः। १।८

हिंसकोऽसि। हिंसन्तं प्रति हिंस। हिंसय तं योऽस्मान् हिनस्ति। अपि तं हिंस, यं हिंसितुं वयं प्रवृत्ताः स्म। गुप्तचराणामन्तरिक्षसदां नाष्ट्ररक्षसां विनाशनाय प्रार्थ्यमानोऽग्निर्भूमिसदां विघातकानां विनाशनायापि नापवार्य्यते।

अथ कस्तम्भ्याः पश्चिमत ईषामभिमृशति। उपस्तूय चानः प्रार्थयते। हे हविर्धान, हे शकट!

देवानामसि वह्नितमं, सस्नितमं, पप्रितमं, जुष्टतमं
देवहूतमम्। अह्रुतमसि, हविर्धानं दृंहस्व, मा ह्वाः
मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्॥ १।९

देवेभ्यो दीयमानानां हविषां वाहकमसि। अतिशुद्धमसि। दार्ढ्यायातिशयेन चर्म्मादिभिः परिवेष्टितमसीति वा, व्रीहिभिर्यवैर्वा हविर्द्रव्यैः परिपूर्णमसि। देवप्रियं मनुष्यसेवितं चासि। देवानामिहाह्वानाय समर्थमसि। अथेदं हविर्दधानं त्वं कौटिल्यमनायातमसि। भाराक्रान्तस्यापि ते भङ्गभयं नास्ति। त्वामारोहयिष्यामीत्यतस्त्वं दृढं भव। आरोहणे मा भग्नं भूः। त्वद्भङ्गहेतोरेव चायं यजमानोऽपि खलु मा भग्नाशो भूदिति प्रार्थ्यते।

अनडुद्वहनयोग्यो युगप्रदेशो धूः, शकटस्य दीर्घं काष्ठमीषा, तदग्रस्य भूमिस्पर्शो माभूदिति तदाधारत्वेन स्थाप्यमानं काष्ठमुपस्तम्भनं कस्तम्भीत्युच्यते।

इत्थं शकटदार्ढ्यं परीक्ष्य व्रीहिग्रहणाय शकटमारुरुक्षुः स्वपादाक्रमणापराधमपह्नोतुमिवैतं शकटोपलक्षिताग्निं विनिवेदयति—हे हविर्धान शकट!

विष्णुस्त्वा क्रमताम्। १।९।

'विष्णुर्वै यज्ञः'। स यज्ञपुरुषस्त्वां पादेनाक्रम्यारोहतु। आरोहणस्य यज्ञानुरोधित्वादहं तद्वशवर्ती यदनुतिष्ठामि यज्ञस्यैव तदनुष्ठानमितिभावः।

शकटस्थव्रीहीणां तृणवस्त्राद्याच्छादितत्वात् संकोचवशाद् वायोरप्रवेशः। "यद्वै किञ्च वातो नाभिवाति तत्सर्वं वरुणदेवत्यम्"—इति तित्तिरिश्रुतेर्वायुप्रवेशविकलं वरुणदेवत्यं

भवति, वरुणश्च बन्धहेतुर्यज्ञं निरुणद्धीत्यतो वारुण्याभावाय तृणवस्त्राद्यावरणमुन्मोचयन् व्रीहीन् प्रेक्षमाणोऽभिमन्त्रयति—

उरु वाताय । १ । ९ ।

वायुप्रवेशायेदमावरणमपनीय हविर्द्रव्यमुरु क्रियते । स यदित्थं भावयन् प्रेक्षते स मनोयोगः । आवरणभङ्गाद् वायुप्रवेशः प्रेक्षणं च प्राणयोगः । मन्त्रोच्चारणं वाग्योगः । क्रियापदहीनाया वाचो मनःप्राणाभ्यां पूर्तिरत्र मनःप्राधान्याभिव्यक्त्यर्था ।

'' व्रीहिषु यदि तृणादिकं किंचिदपद्रव्यं दृश्येत तर्हि तन्निरस्यन् तृणाद्यभावे तु केवलं व्रीहीनभिमृशन् जपति—

अपहतं रक्षः । १ । ९ ।

यज्ञविघातकत्वाद् रक्षोरूपमपद्रव्यं तृणलोष्टादिकं हविर्द्रव्यान्निष्कृतमस्तीति पश्यामि । भावनं निरसनप्रेक्षणे उच्चारणं चेहार्थः । रक्षोवन्मन्त्रमुच्चार्योदकस्पर्शः ।

पञ्चाङ्गुलिमुष्टिना व्रीहीन् गृह्णानो जपति—

यच्छन्तां पञ्च । १ । ९ ।

पञ्चाङ्गुलयो हविर्नियच्छन्तु ।

ततश्चतुरो मुष्टीनाग्नेयं हविर्गृहीत्वा यजमानोऽग्निहोत्रहवण्या पवित्रवत्या पवित्रवति शूर्पे निर्वपति त्रिर्यजुषा, तूष्णीं चतुर्थम् । ततोऽग्नीषोमीयं पृथक् चतुरः । हे हविः !

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो
हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामि ॥ २ ॥ १ । १०
अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ २ ॥ १ । १०

सविता देवानां प्रसविता प्रवर्त्तको देवताविशेषः । स इह पूर्वहरित्संलग्नाभ्यामुदयमानाभ्यां चित्रास्वातीतारकाभ्यामुपलक्ष्यते । तदानीमश्विनौ पश्चिमहरित्यस्तमेष्यन्तौ भवतः, रेवती योगतारा त्वस्तं गता भवति । अथादितिः खस्वस्तिके भवति । अदितिरियं पृथ्वी । सोऽग्निः । अग्निः सर्वा देवताः । अतश्चायं सर्वासां देवतानां यज्ञकालः । तां स्थितिमनुभावयन्नश्विपूषरश्मिभिरिदं हविरिष्टिदेवताभ्यो गृह्णामीत्याह । अश्विनौ देवानामध्वर्यू । पूषा देवानां भागधु ।

अथावशिष्टं शकटे धान्यमभिमृशन्नाह—हे शकटस्थित हविःशेष !

भूताय त्वा नारातये । १ । ११ ।

अन्यान्यप्राणिजनोपयोगाय प्रभूताय वा पुनः कर्तव्याय वा देवकर्म्मणे त्वां संपरिशेषयामि, न तु कार्पण्याददानाय ।

"स्फात्यै त्वा नारात्यै (तै० सं० १।१।४)"—इति तित्तिरिमन्त्रपाठः ।

गृहीत्वा हविः प्राङ्मुखो यज्ञभूमिं वीक्षते ।

स्वरभिविख्येषम् । १ । ११ ।

"यज्ञो वै स्वरहर्देवाः सूर्य्यः । स यज्ञविहारमभिपश्यामि । तमसीव वा एषोऽन्तश्चरति यः परीणहि । स्वरेवाभिविपश्यति । वैश्वानरं ज्योतिरिति ब्राह्मणम् ।

अथ शकटादवरोहन्नाह—

दृंहन्तां दुर्य्याः पृथिव्याम् । १ । ११ ।

हविर्गृहीत्वावतरतोऽध्वर्य्योर्भारेण पादसंनिवेशे क्षोभः संभाव्यते स इत्यवधानेन वार्य्यते । भूमौ अवकाशाः पादावरोपस्थलं मे दृढं भवतु ।

अथ यज्ञप्रदेशमभिसंचरति ।

उर्वन्तरिक्षमन्वेमि । १ । ११ ।

विपुलमवकाशमनुसंचरामि ।

स यज्ञदेशमागत्य श्रपणस्य पश्चादुत्तरेण वा गार्हपत्यं हविः सादयति । हे हविः !

पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयामि,

अदित्या उपस्थे । १ । ११ ।

भूम्या मध्यप्रदेशे यज्ञभूमेर्धरातले त्वां स्थापयामि । अदितिः पृथिवीत्याहुः । सा चाश्विन्यादिचित्रान्तभमण्डलसंमुखीनार्द्धरूपा, सोत्तरतो लोका भाव्या ॥ तथा ह्याह—

"अदिति द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥" १ । ८९ । १० ॥

अदित्या व्याज्यवृत्तित्वात् पृथिव्या इत्यवच्छेदपरिग्रहः ॥ पृथिव्या विपुलाङ्गत्वाददित्युपस्थेन तदेकदेशावच्छेदः तेनापौनरुक्त्यम् ॥

अथ पृथिव्यधिष्ठितोऽग्निरयं गार्हपत्यः श्रपणो वाग्निः संप्रार्थ्यते—

अग्ने हव्यं रक्ष १ । ११ ।

तव संनिधाने स्थापितमिदं हव्यं बाधकेभ्यः पालय। 'रक्षस्वे' ति शाखान्तरे पाठः।

इति पुरोडाशाधिकारे हविर्द्रव्यानयनम् ॥ ६ ॥

७—अथ पवित्रकरणम्।

कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गर्भौ कुशैश्छिनत्ति। हे कुशौ?

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ। १। १२।

"यज्ञो वै विष्णुः"। यज्ञियौ युवां पवित्रे इति दोषमार्जनहेतू स्थः। तथा हि निगमो भवति। इन्द्रो वृत्रमहन्। सोऽपोऽभ्यम्रियत। तासां यन्मेध्यं यज्ञियं स देवमासीत् तदपोदक्रामत्, ते दर्भा अभवन्। यद्दर्भैरप उत्पुनाति—या एव मेध्या यज्ञियाः सदेवा आपः ताभिरेवैना उत्पुनाति"। (तै० ब्रा० ३। २। २५॥) इति यदपां दैवं सारं तदमृतं प्रोक्षणादिना द्रव्यशोधकं भवति॥

"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरैते त्रयो वेदा भृगूनङ्गिरसः श्रिताः"

इत्याम्नायते। आपो, वायुः, सोमः—इति भृगवः। अग्निः, यमः, आदित्यः—इत्यङ्गिरसः। अपां वायुरेकं रूपम्। अयं वै पवित्रं योऽयं पवते। सोऽयमन्तःप्रविष्टः प्राङ् च प्रत्यङ् च। ताविमौ प्राणोदानौ। तस्यैवानुमात्रां द्वे भवतः। स हतो वृत्रः पूतिः सर्वत एवापोऽभिप्रसुस्राव। अस्ति वा इतरासु संसृष्टमिव यदेना वृत्रः पूतिरभिप्रास्रवत्। तदेवासामेताभ्यां पवित्राभ्यामपहन्ति। अथ मेध्याभिरेवाद्भिः प्रोक्षति। तदर्थमेताभ्यामुत्पुनाति।

इति पवित्रकरणम् ॥ ७ ॥

८—अथापां प्रोक्षणम्

हविर्ग्रहण्यां तिरःपवित्रमपः कृत्वा पवित्राभ्यामुदीचीनाग्राभ्यामाभ्यां ताभिः पुनाति यच्छ—

हे आपः! अच्छिद्रेण पवित्रेणेति पवमानेनानेन सूर्यरश्मिभिश्च युष्मान् सवितुः प्रवर्तनायां पावयामि। वायुः सूर्यकराश्चोपहतभूमिशुद्धिहेतवो दृष्टाः। सावित्राग्निकृता नोदनैव चोभयत्र हेतुः। ते च पवित्रे तत्रैव प्रणीतास्वप्सु निहिते प्रतिष्ठतः।

देवो वः सवितोत्पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण वसोः सूर्यस्य रश्मिभिः (तै० स० १। १। ५।) इति तित्तिरिमन्त्रः॥

ता अपसव्ये पाणौ कृत्वा दक्षिणेनोदिङ्गयति—

देवीरापोऽग्रेगुवो ग्रे पुवः अग्र इममद्य
यज्ञं नयत, अग्रे यज्ञपतिं सुधातुं यज्ञपतिं
देवयुवम् । युष्मा इन्द्रोवृणीत वृत्र तूर्य्ये,
यूयमिन्द्रमवृणीध्वं वृत्र तूर्य्ये। प्रोक्षिताः स्थः । १ । १३ ।

हे आपः ! समुद्रगाः सोमभक्षिण्यो यूयमग्रगामिन्योऽग्रमावत्यः स्थ । तस्मादिह यज्ञं यजमानं चाग्रं नयतेति ब्रूमः । यज्ञमिमं समाप्तिं गमयत। यजमानं चेमं कामान् गमयत। अपि चैतं यजमानमिह जीवनसमृद्धिं च गमयत । वृत्रेण प्रतिस्पर्द्धायामिन्द्रो वृत्रं हनिष्यन्नपो वव्रे यूयं मम सहकारिण्य इति । आपश्चैता इन्द्रमवृण्वतऽभवानस्माकं सहकारीति । सेयमपामिन्द्रेण परस्परसमानापेक्षऽसीदित्यपां महिमा ख्यातिः । 'प्रोक्षिताः स्थे' त्यासां प्रोक्षणमभिमन्त्रणमात्रं वा । "आपो देवीरग्रेपुवो अग्रेगुवोऽग्र इमं यज्ञं नयताग्रे यज्ञपतिं धत्त । युष्मानिन्द्रोऽवृणीत" (तै० स० १ । १ । ५ ।) इत्यादिस्तित्तिरिमन्त्रः ।

इत्यपां प्रोक्षणम् ॥ ८ ॥

९—अथ हविः प्रोक्षणम् ।

अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । अग्नीषोमाभ्यां त्वा
जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ । १३ ।

एवं यथादैवतमन्यान्यपि हवींषि त्रिस्त्रिः प्रोक्षति ।

देवतायै मेध्यं करोति । अथ यज्ञपात्राणि कृष्णाजिनोलूखलादीनि उत्तानानि कृत्वा त्रिः प्रोक्षति ।

दैव्याय कर्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै ।
यद्वोऽशुद्धाः पराजघ्नुरिदं वस्तुच्छुन्धामि ॥ १ । १३ ।

हे यज्ञपात्राणि ! अग्न्यादिदेवताकर्म्मसिद्ध्यर्थं या देवानां यागक्रिया दर्शेष्ट्यादिका तदर्थं शुद्धानि भवत । यदेव तु युष्माकं किञ्चिदङ्गमशुद्धस्तक्षा वाऽन्यो वा कश्चिदमेध्यश्छेदनतक्षणादावमेध्यं चक्रुः—तदिहमद्भिर्मेध्यं करोमि । "शुन्धध्वं दैव्याय कर्मणे देव-

यज्यायै"-इति तित्तिरिः। प्रणीताहवनीयान्तरालमसंचर इत्याहुः। असञ्चरे प्रोक्षणीर्निदध्यात्।

इति हविःप्रोक्षणम्

१०-अथ हविःकण्डनम्

अथ हविरध्यवहननं करिष्यन्नुलूखस्याधस्तान्निधातुं कृष्णाजिनमादत्ते—

शर्म्मासि ॥ १।१४।

हे कृष्णाजिन! त्वं कृष्णमृगस्य चर्मासि। चर्म्मेति मानुषं, शर्म देवत्रा। यदेवात्र तण्डुलो वा पिष्टं वा स्कन्देत्, स यज्ञो यज्ञे प्रतितिष्ठेत् तदस्कन्नं हविः स्यात्। तस्मादध्यवहननमधिपेषणं च कृष्णमृगचर्म्मोपरि क्रियते। दीक्षा चैतस्य यज्ञस्य सर्वत्वाय। अग्निर्हि यज्ञः। स देवेभ्योऽपक्रम्य कृष्णमृगो भूत्वा चचार। तस्य देवास्त्वचमवच्छायाजहुः। तस्यैतानि शुक्लकृष्णलोमानि ऋक्सामयो रूपं, बभ्रूणीव हरीणि तु यजुषः। सैषा त्रयी विद्या यज्ञः। अतश्च सर्वत्वाय यज्ञस्य कृष्णाजिनमादत्ते। तित्तिरिस्तु नेदं मन्त्रयति॥

तदुत्करे त्रिः सकृद्वावधूनोति पात्राण्यतिनत्येव। यथैतानि पात्राण्यमेध्यानि स्युः॥

अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः ॥ १।१४।

नाष्ट्रा एवैतद्रक्षोवधूननादपहतं, तेन चास्माकं यज्ञविघ्नकारकाः सर्वे प्रध्वस्ताः।

तदजिनमुत्तरलोम प्रत्यगग्रीवं कृत्वोपस्तृणाति पुरस्तादाहवनीयस्य।

अदित्या स्त्वगसि, प्रति त्वाऽदितिर्वेत्तु ॥ १।१४।

अदितिः पृथ्वी। यदस्यामधि किञ्चित्, तदस्यास्त्वगिवोपकल्पते। हे अजिन! इह पृथिव्यामास्तीर्य्यमाणं त्वमस्यास्त्वगिवोपपद्यसे। अतश्चेयं पृथ्वी त्वां प्रतिवेत्त्विति स्वं कृत्वा संजानीताम्। यथेदमजिनमुलूखलादौ पृथ्वीप्राणसम्बन्धविच्छेदकमन्तरायं न स्यात्।

सव्येन पाणिनाऽभिनिहितेऽस्मिन्नजिने दक्षिणेनोलूखलमधिवर्तयति।

अद्रिरसि वानस्पत्यो, ग्रावासि पृथुबुध्नः,
प्रतित्वाऽदित्या स्त्वग् वेत्तु ॥ १।१४।

अभिषवणद्रव्येऽद्रिशब्दो रूढः। हे उलूख! यथा सोमाभिषवाय ग्रावाण एवं हविर्द्रव्यावघाताय त्वं दारुममयोऽद्रिरसि, अपि वा त्वं विपुलमूलो ग्रावासि। तं त्वामियमधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनस्वरूपा भूमित्वक् प्रतिवेत्त्विति स्वकीयत्वेन संजानीताम्। यथेदमुलूखलं

चर्म्मणैक जीवं सुस्थिरं स्यान्न लेलायेत। अधिषवणमसि वानस्पत्यं प्रतित्वेत्यादि स्तित्तिरिमन्त्रः।

अथैतस्मिन्नुलूखलेऽवघातार्थं पुरोडाशीयव्रीहिद्रव्यमावपति—

"अग्नेस्तनूरसि, वाचो विसर्जनं,
देववीतये त्वा गृह्णामि" ॥ १ । १५ ।

हे पुरोडाशीयव्रीहिसमूह! त्वमग्नेः शरीरमसि। दाह्यं काष्ठमिवान्नं गृह्णनुदराग्निराहवनीयाग्नि श्चोपचित वपुर्भवति। भविष्यदर्थे निश्चिता ध्यवसाद् भूतारोपः। अपि च—वाचः प्रवृत्तिकारणमसि। अपां प्रणयनकाले नियमिताया यजमानस्य वाचोऽध्वर्यो श्चेह हविरावपनकाले हविष्कृदेहीत्याह्वानाद् विसर्जनमाह। अपि च देवोपभोग्यपुरोडाशस्वरूपसिद्ध्यर्थं वामुलूखलेऽस्मिन्नावपामि। अथै तत्कण्डनाय मुसल मादत्ते—

"बृहद् ग्रावासि वानस्पत्यः, स इदं देवेभ्यो
हविः शमीष्व सुशमि शमीष्व" ॥ १ । १५ ।

हे मुसल! दारुमयोऽपि त्वं दार्ढ्यात् पाषाण इवासि, दीर्घत्वाच्च महानसि। स—त्व मग्नयादिदेवोपकारार्थमिदं व्रीहिरूपं हविर्भक्षणप्रतिबन्धक तुषापनयेन शान्तं कुरु। अन्तः स्थमलापनोदनाच्चेदं यथा सुष्ठुकृतं स्यात् तथा फलीकरणेन शान्तं कुरु। "अद्रिरसि वानस्पत्यः स इदं देवेभ्यो हव्यं सुशमि शमिष्वे" इतितित्तिरिः

त्रिरवघ्नन् हविःकण्डन कृत माह्वयति—

"हविष्कृदेहि हविष्कृदेहि"। १ । १५ ।

पत्नी वाऽग्नीध्रो वा हविश्कृत्। स यत्र काले हविष्कृतमध्वर्युराह्वयति तदानीमेवान्योऽयमाग्नीध्रोऽश्मान मादाय दृषदुपले शम्यया त्रिराहत्यासुरघ्नींवाचं प्रत्युद्वादयति, द्विर्दृषदि, सकृदुपलायाम्। त्रिःसंचारयन्नवकृत्वः संपादयतीत्याहुः॥

"कुक्कुटोऽसि मधुजिह्वः, इषमूर्जमावद,
त्वया वयं संघातं संघातं जेष्म" ॥ । १ १६ ।

कुकुटोऽयमसुरेभ्योऽनिष्टं वदन् द्विषज्जिह्वो भवति। मधुजिह्वस्तु देवेभ्यःस इष्टं ब्रूते। स यथा कुकुटो देवेभ्यस्तथा त्वमस्मै यजमानायासि मधुजिह्वः। स त्वं पाषाणे दतं रसं चास्मिन् यजमाने संभावयन् शब्दं कुरु। असुरघ्नींच वाचं ब्रुवता त्वया वयं संघातं संघातमसुराणामवि-

नीतानां च वैरिणामभिभवेमं । मन्त्रसंस्कारकृते यज्ञपात्रेऽसुरघ्नी वागुद्भवतीतिविज्ञानम् । "इष-मावद्—ऊर्जमावद—द्युमद्वदत—वयं संघातं जेष्म" इति तित्तिरिः ।

इति हविः कण्डनम् ॥१०॥

११—अथ वितुषीकरणफलीकरणे

अथ अवहत्य वितुषान् कृत्वोत्तरतः शूर्पमादत्ते—नडानां वा, वेणूनांवा, इषीकाणां वा।

वर्षवृद्धमसि ॥ १ । १६ ।

हे शूर्प । वृष्टियोगात् त्वं वर्द्धमानमसि । वृष्ट्या नडादीनां वृद्धिः शूर्पेऽनुभाव्यते ।

तस्मिन् पुरोडाशीयं हवि र्निर्वपति—

प्रतित्वा वर्षवृद्धं वेत्तु ॥ १ । १६ ।

हे हविः । वर्षवृद्धमिदं शूर्प त्वा प्रति वेत्त्विति स्वकीयत्वेन संजानीताम् । व्रीहियवादि-हविर्द्रव्यस्यापि वर्षवृद्धतया साधर्म्योपपत्तेः ।

अथोदङ् पर्यावृत्य शूर्पेण निष्पुनाति । वितुषी करणं निष्पवनम् ।

परापूतं रक्षः, परापूता अरातयः ॥ १ । १६ ।

तुषेषु यज्ञप्रतिबन्धकत्वेन रक्षोबुद्धया तन्निराकरणात् प्रतिबन्धकसामान्यस्य निरोपकरणो-पत्तिरित्याह—परापूता अरातय इति ॥ "यज्ञ रक्षांस्यनु प्राविशन् । तान्यस्तापशुभ्यो निरवादयन्त ।, तुषै रोषधीभ्यः" इत्याम्नायते । तै० ब्रा० ३ । २ । ५ । भूमौ पतितांस्तुषान दूरे निःसारयेत्—

अपहतं रक्षः १ । १६ ।

यतो यज्ञो रक्ष्यते तस्मिन्नाहुतिजन्य संस्कारोदयप्रतिबन्धक सामान्ये रक्षःशब्दः । तन्मे रक्ष इति मनः शुद्धिरपेक्ष्यते । मनोग्लानेरपि कर्म्मसिद्धि प्रतिबन्धकत्वात् ॥

एवमस्मिन् वितुषीकरणे तन्दुलान् कणांश्च पृथक् करोति । हे तन्दुलाः—

वायुर्वो विविनक्तु । १ । १६ ।

पवित्रं वायुः । स इह शूर्पचालनेनोत्थो वायुर्युष्मान् सूक्ष्मकणेभ्यः पृथक् करोतु ।

अथ हविष्यान् पात्र्यामोप्याभिमन्त्रयते ॥

देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णातु-
अच्छिद्रेण पाणिना ॥ १ । १६ ।

अन्तरिक्षादिव वा एते प्रस्कन्ददति ये शूर्पादवपात्यन्ते। तेषां तन्दुलानामितस्ततोऽनवस्कन्दाय सत्यदेव हस्तावलम्बनेन प्रतिष्ठामनुकल्पयते। सुप्रतिगृहीता भवन्त्वित्यवधानं विधीयते। अथैतत् तूष्णीमेव त्रिःफलीकरोति। यत्तु देवेभ्यः शुन्धध्वं देवेभ्यः शुन्धध्वमित्येके फलीकुर्वन्ति, तदसत्। वैश्वदेवत्वापत्तेः। श्वैत्याच्छादक तुषापनयनं फलीकरणमित्याहुः। फलीकृत्य कणान्निदधाति॥

इति वितुषी करणफलीकरणे।॥११॥

१२–अथ हविःपेषणकपालोपधानादि

अथ पेषणोपधाने युगपत् कार्य्येइतिसमाचारादेकः कपालान्युपदधाति तदानीमेवान्यो दृषदुपलाभ्यां पिष्टं संपादयति। सहैतदुभयं क्रियते। तत्र कपालान्युपधातुमुपवेष मादत्ते। हे उपवेष!—

धृष्टि रसि। १। १७।

तीव्राङ्गाराणामितस्ततश्चालने प्रागल्भोऽसि। धृष्णिवैतेनाग्नि मुपचरति, व्रह्मयच्छेत्यधिकस्तैत्तिरीये मन्त्रः। पलाशशाखाया मूलदेशे च्छिन्नोऽङ्गारापोहन समर्थः प्रादेशपरिमितः काष्ठखण्ड उपवेष। एतेनाग्निमुपवेवेष्टि तस्मादुपवेषः। तेन प्राचोऽङ्गारानुदूहति। तदङ्गारापोहनम्। धीयेरन् इति। अपि चैतेनाङ्गारविशेषान्निरस्यति। अङ्गारा ह्यग्निकणाः।

अग्निस्त्रिविधः—आमात्, क्रव्यात्, देवयाट् च। पाकाद्युपयुक्तो लौकिकोऽग्निरामात्। शवदाहकस्तु चिताग्निः क्रव्यात्। अथैतदुभयभिन्नो यज्ञयोग्यो वैधोऽग्निर्देवयाट्। इत्थंविधां-स्त्रीनङ्गारान् गार्हपत्यात् प्राग्भावे पृथक् कृत्य तेषां मध्यात् यज्ञानुपयुक्तावामात् क्रव्यादौ वारयितुं गार्हपत्याग्निः प्रार्थ्यते—

अपाग्ने अग्नि मामादं जहि।
निष्क्रव्यादं सेध।
आ देवयजं वह॥ १। १७।

हे गार्हपत्याग्ने! आमादं नामाग्निमपजहि। क्रव्यादमग्निं निःषेध। यस्त्वयमग्निस्तृतीयो देवयाट् तस्मिन् हवींषि श्रपयाम। तस्मिन् यज्ञं तनवामहै। इत्येवमर्थं तमावह। आमात् क्रव्यादावङ्गारौ परित्यज्यदेवयज्याङ्गारेण हवि र्ग्राह्य मिति भावः। उद्धृतेषु त्रिष्वङ्गारेषु आमात्व क्रव्यात्वाभ्यामुपकल्पितयो र्द्वयोर्बहिः प्रक्षेपं केचिदिच्छन्ति, तदसत्, "वीरहा वा एष भवति

योऽग्नीनुत्सृजति" इति श्रुत्या तस्य निषिद्धत्वात्। तस्माद् आद्येन मन्त्रद्वयेन गार्हपत्यप्रार्थनामात्रम्, तृतीयेन तु तृतीयमङ्गारमाहरति।

ततस्तं यजुष्कृतत्वान्मेध्यं देवयजमङ्गारं मध्यमेन कपालेन तावदवच्छादयति। हे कपाल! त्वम्—

"ध्रुवमसि, पृथिवीं दृंह, ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजातवन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय"॥ १। १७।

दृढमसि, पृथिवीं दृढीं कुरु। ब्रह्म च क्षत्रं चैतदुभे वीर्य्ये।

तयो र्ज्ञाति जनानुरक्ते अस्मिन् यजमानेऽभिसिद्धियाचनार्थं शत्रुनाशार्थं च त्वामङ्गारे स्थापयामि। यदि त्वभिचरेद्—अमुष्य वधायेति नामगाहं निर्दिशेत्। अभिनिहितमेव सव्यपाणेरङ्गुल्यैतस्मिन् अङ्गारयुक्तप्रदेशस्थे कपाले पुनरन्यमग्नि मधिवर्तयति—

"अग्ने ब्रह्म गृभ्णीष्व"। । १८।

कपालस्याध ऊर्ध्वं चावस्थानात् त्वं बलवज्ज्योतिर्गृहाण। अपि वा कपालाधस्तादुपस्थित हे पृथिव्यग्ने! त्वं दिव्याग्निरूपं ब्रह्म गृहाण। कपालरूपा हीयं पृथ्वी द्यावापृथिव्यग्निभ्यामुभयतः परिगृहीतास्तिइति भाव्यते। तैत्तिरीयके त्वेतमंशमपठित्वा मन्त्रमाह—

"निर्दग्धं रक्षो निर्दग्धा अरातयो—ध्रुवमसि—पृथिवीं दृंहआयुर्दृंह, प्रजा दृंह, सजातानस्मै यजमान पर्य्यूह"॥ इति

अथैतन्मध्यमकपालतः पश्चात् कपालमन्यमुपदधाति पूर्ववत्—

"धरुणमस्यन्तरिक्षं दृंह, ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजात वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय"॥ १। १८।

एवं प्रथमस्य पूर्वभागे तृतीयं स्थापयेत् पूर्ववत्।

"धर्त्रमसि, दिवं दृंह, ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि
सजात वन्युपदधामि भ्रातृव्यस्य वधाय॥" १। १८।

तैत्तिरीयेके त्वेना वित्थं पठ्येते—"धर्त्रमस्यन्तरिक्षं दृंह, प्राणं दृढं, सजातानस्मै यजमानाय पर्य्यू हेति। धरुणमसि दिवं दृंह। चक्षुर्दृंह, श्रोत्र दृंह, सजातानस्मै यजमानाय पर्य्यूहेति।" धर्त्रधरुणयोर्व्यत्यास श्चिन्त्यः। अथ दक्षिणत श्चतुर्थं स्थापयति। हे कपाल!

"विश्वाभ्यस्त्वाशाभ्य उपदधामि"। १। १८।

सर्वाभ्यो दिग्भ्यो दार्ढ्याय त्वां स्थापयामि। इत्थं कपालत्रयेण लोकत्रयं चतुर्थेन दिशो जयति। नातः परमस्तीत्येतावानग्निः। तस्यैतद्गतः—पुरोडाशः सर्वमन्नं सर्वा हि तद्देवताः

ध्रीखाति। तित्तिरि स्त्वाह—"घर्मासि दिशो दृंह, योनिं दृंह, प्रजां दृंह सजातानस्मै यजमानाय पर्य्यूह"–इति ॥

इत्थमष्टकपालस्याग्नेय पुरोडाशश्चता वच्चत्वारि कपालानि स्थापितानि।

अथान्यानि चत्वारि कपालानि समं विभज्य द्वे द्वे दक्षिणतो द्वे चोत्तरतः स्थापयेत। हे कपालविशेषाः। यूयम—

"चितः स्योर्ध्वचितः" ॥ १ । १८ ।

प्रथम कपालोपचय हेतवो भवथ। ऊर्ध्वमुपाहितानां च कपालाना मुपचायका भवथ। तूष्णीं वैतान्युत्तराणि चत्वारि तत्रोपधीयन्ते न तु यजुषा। तत्रैष कामचारो भवति। तित्तिरस्तु—

"चितस्थः प्रजामस्मै रयिमस्मै सजातानस्मैयजमानाय पर्य्यूह"–

इति पठति। अपिचेह—कल्पभेदः स्मर्य्यते। अथ पूर्वार्ध्यमुपदधाति—

"धर्त्रमस्यन्तरिक्षं दृंहेति"–

अथ परार्ध्यमुपदधाति—

"धरुणमसि दिव दृंहेति"

अथ दक्षिणार्ध्य मुपदधाति—

"घर्मासि दिशो दृंहेति"

अथ पूर्वार्ध्य मुपदधाति—

"चितिः स्थेति वौधायन।"

धर्त्रमसीति पूर्वं द्वितीयं संस्पृष्टम्,

धरुणमसीति पूर्वं तृतीयम्।

धर्मासीति सप्तमम्।

चितःस्थेत्यष्टमम्। इत्यापस्तम्बः।

एकमग्रे कपाल मुपदधाति—"ध्रुवमसीति"—

अथ ध्रुवमसि धर्त्रमसि—इति सह द्वे।

अथ ध्रुवं धर्त्रं धरुणमसीति सह त्रीणि।

अथ धर्मासीत्येनन सह चत्वारि।

अथाष्टौ सह इत्यन्ये।

एवमेकादशाग्नीषोमीयस्य कपालान्युपदधाति । तत्राधिकं दक्षिणत उपधेय मित्याहुः ॥

अथाङ्गारैः कपालानि छादयति, उपसर्जनीरपश्चाधिश्रयति । हे कपालानि ! उपसर्जन्यश्च यूयम्—

"भृगूणामाङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" ॥ १ । १८ ।

"एतद्वै तेजिष्ठं तेजो यद् भृग्वङ्गिरसाम" आपो वायुः सोम इति भृगुरसाः स्नेहगुणाः । अग्निर्यम आदित्य इत्यङ्गिरसो रसास्तेजोगुणाः । कापालेषूपसर्जन्यासु चोभये समवेता अङ्गार-संयोगात् सुतप्ता भवन्ति । उभयत्रचापन्ना अनात्मिका दोषा यज्ञमपहनिष्यन्तीत्यनेन तापेन तेषां निर्दाहादिमानि कपालान्युपसर्जन्यश्च शोधयितु मिष्यन्ते । इति कपाल प्रतपन कल्प एकतः क्रियते ।

इति कपालोपधानादि ॥१२॥

१३—अथ हविःपेषणादि

अथान्यतः सहैव च हविः पेषण प्रयोगः क्रियते । यो दृषदुपलेनुपदधाति स कृष्णा-जिनमादत्ते । हे अजिन ! त्वम्—

"शर्म्मासि" ॥ १ । १९

मृगचर्म्मासि । एतया वाचा यज्ञावयवे सत्ये मनः संयुनक्ति । कर्म्मणा विनियुक्तः प्राणो वाङ्मनसाभ्यामसंपन्नो यथा न स्यात् ।

अथैतदवधूनोति—

"अवधूतं रक्षोऽवधूता अरातयः" ॥ १ । १९

तत् प्रतीचीनग्रीवमुपरिलोमोपस्तृणाति । हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

"अदित्यास्त्वगसि । प्रतित्वाऽदितिर्वेत्तु" ॥

"प्रतित्वा पृथिवी वेत्तु"—इति तित्तिरि पाठः ॥

ततस्तस्मिंश्चर्मणि शिलां स्थापयेत् । हे पेषणाधारभूते शिले ! त्वम्—

"धिषणासि पर्वती, प्रतित्वाऽदित्यास्त्वग्वेत्तु" ॥ १ । १९

बुद्धिः कर्म च धीः धियं सनोति ददातीति कर्म्मदात्री बुद्धिर्धिषणा । अपि वा ज्ञानदात्री कर्म्मनियोक्त्रीवोपदेश वाग् धिषणा । अपि वा धीयोगात् संविभक्तेति पदवाक्यप्रमाणवती वाग् धिषणा । अपि वा यथा कथंचिदवच्छेद शिल्पनिर्म्मिता यत् किंच्चिदर्थव्क्तिर्धिषणा । आत-

श्चैषा पाषाणशिला शिल्प विशेषावच्छिन्नाऽस्तीति धिषणा वक्तुम् शक्यं । पाषाणत्वात् पर्वती । तां त्वामिय मधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमित्वक् स्वकीयत्त्वेनानु गृह्णातु । उभयोः प्राणयोरन्योन्य समन्वपादेक प्राणत्वं भवतु ।

अथैतस्याः दृषदः पश्चाद् भागेऽधस्ताच्छ म्यामुदीचीन कुम्बां निदधाति ॥

"दिवः स्कम्भनीरसि" । १ । १६

हे शम्ये! त्वं द्युलोकस्य धारयित्र्यासि । गदया समाना कारो व्यामार्ध परिमितः काष्ठ विशेषः शम्या । तां पेषणहेतोर्दृषदःपश्चाद् भागे तदधस्तात् कृष्णाजिनो परिष्टा दुच्छ्रिरस्कां निदधाति । येनैतस्या दृषदः पश्चाद् भाग उन्नतः स्यात् ॥ एतेनेयंदृषत् प्राकप्रवणाभूत्वा देवत्रा भवति । एकतःपृथिव्याऽपरतो दिवा च संबध्नाति । उभाभ्यां चानुसंबद्धः सोमः प्राचीमनु देवत्रानुवर्तते इति स्थितिः । आह च तैत्तिरीयके—

"द्यावा पृथिवी सहास्ताम् । ते शम्यामात्रमेक—
मह व्यैताम् । शम्यामात्रमेक महः । दिवस्क—
म्भनिरसि प्रतित्वा दित्यास्त्वग् वेतु—इत्याह ।
द्यावा पृथिव्यो वीत्यै" ॥ (तै० ब्रा० ३ । २ । ६ ।)

अपि चैतस्यां शम्यायां प्राचीं दृषदमध्यूहति तैत्तिरीयकाणां । "मन्त्रेण धिषणासि पर्वत्या प्रतित्वा दिवः स्कम्भनिर्वेत्तु" । इति । नैतदिष्यते माध्यन्दिनीयाम् ।

अथ दृषद्युपलामुपदधाति—

"धिषणासि पार्वतेयी, प्रतित्वा पर्वती वेत्तु" । १ । १६

दृषदियं पर्वती । तस्या दुहितेव त्वं पार्वतेयी । तां त्वामियमधस्तान्निहिता मातृसमा शिला स्त्रीयत्वेन भावयतु । अत्र दृषत् पृथ्वी, उपला द्यौः ते अन्तरा निहितैषा शम्याऽन्तरिक्षं-रूपेण । अपि चैते दृषदुपले हनू । ते अन्तरैषा शम्या जिह्वारूपेण—इति ब्राह्मण निरुक्त्या दृषदोऽस्या उपरिष्टादेव खलु पश्चाद् भागे शम्यानिधानं, नाधस्ता दित्याहुः । परे तू परिशम्यया पेषण विरोधात् दृष्टार्थ मधस्तादुपधानं भाव्यम् । जिह्वान्तरिक्षसंस्तुते रुपधानक्रमापेक्षितयोपपत्तेः संभवादिति पश्यन्ति ।

ततो दृषदि पेषणार्थं तन्दुलानावपेत् । हे हविर्द्रव्य !

"धान्यमसि धिनुहि देवान्" ॥ १ । २०

प्रीणनस्वभावाद्धान्यनमासि । स त्वमिह यजनीयानग्न्यादीन् देवान् प्रणीय

अथ पिनष्टि—

"प्राणाय त्वा, उदानाय त्वा, व्यानाय त्वा,
दीर्घामनु प्रसितिमायुषे धाम्" ॥ १ । २०

हे तन्दुल! यजमानस्य प्राणादिपुष्ट्यर्थं त्वां पिनष्मि। अविच्छिन्नां कर्म्मसंततिमुद्दिश्य यजमानस्यायुरभिवृद्ध्यर्थं त्वामिदमधाम्। इत्येवं ब्रुवाण एवैष पिष्टानि प्रक्षिपन् कृष्णाजिने प्रोहति।

"देवो वः सविता हिरण्यपाणिः प्रतिगृभ्णा-
त्वच्छिद्रेण पाणिना" ॥ १ । २०

कृष्णाजिने प्रक्षेपसमये हविषो भूमौपतनं माभूदिति सवितुर्ग्रहणमभ्यर्थते। हे हवींषि! हिरण्यगभस्तिः सविताऽयमविच्छिन्नेनांशुना युष्मानभ्युपगच्छतु। व्रीहणनानात्वापेक्षं बहुवचनम्।

अथैनदीक्षते—हे हविः!

"चक्षुषे त्वा" ॥ १ । २०

दृष्ट्यवधानार्थं त्वां पश्यामि। अपि वेदमंत्र पश्यन्ति
"जीवं वै देवानां हविरमृतममृतानाम्।" इति।

अथैतदुलूखलमुसलाभ्यां दृषदुपलाभ्यां हविर्यज्ञंघ्नन्ति। तत्रैतत् प्राणायत्वेत्यादिभिः प्राणोदानौ व्यानमायुश्चास्मिन्नत्रदधाति। सवितुश्च हिरण्यमयपाणिना सुगृहीतं क्रियते। चक्षुरिन्द्रियं चास्मिन्नाधीयते। जीवतो ह्येतानि भवन्ति। अतश्चैतेन हविर्देवानां जीवितं भवत्यमृत ममृतानाम्। इति हि भावयतो मनस्तदल्मषं विशुद्धं भवति। द्रव्यसंस्कारत्वादिदमीक्षणं चर्विष्ट्यां तन्दुलानां वाजप्रसवीयाहुतौ चयने वाजपेये च सर्वौषधीनामपीष्यते।

पिंषन्ति पिष्टानि, अभीन्धते कपालानि अथैतत्तुल्यकालमेवैको यजमानो वा ब्रह्मा वा यमाज्यमनिरुक्तेन यजुषा गृह्णाति। हे आज्य! त्वम्—

"महीनां पयोऽसि" ॥ १ । २०

गवां क्षीररसोऽसि, क्षीरोत्पन्नत्वात्। अथाज्यस्थाल्यां तदाज्यं ब्रह्मा निर्वपति।

अथोत्तरेण गार्हपत्य मुपविष्टः पात्र्यां पवित्रे अवधाय तत्र पात्र्यां कृष्णाजिनात्पिष्टान्यावपति। हे पिष्टमय हविर्द्रव्य!

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो-
र्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवपामि" ॥ १ । २१

तैत्तिरीयास्तु संवपामि पदात् प्राग्—"अग्नये जुष्ट मिति वा, अग्नीषोमाभ्यां जुष्ट मिति वा, यथादैवतं नामोद्दिशन्ति।

सपवित्रायां पात्र्यां सयवनार्थमयं पिष्टप्रक्षेपः। सपवित्रत्वं त्वदृष्टार्थम्। तां चैतां सपिष्टां पात्रीमादायोत्थाय गार्हपत्यस्य पश्चादुपविशति—इति कात्यायनः। वेद्याः करिष्यमाणायाः अन्तर्देशेतूपविशतीति॥ श्रूयते—तत्र विकल्पमिच्छन्ति।

अथाग्नी दुपसर्जनीरानयेत्। पिष्टसंयवनीया आपः उपसर्जन्यः। ता अध्वर्युः पवित्राभ्यां प्रतिगृह्णाति चतुः पर्वणा यजुषा—

"समाप ओषधीभिः, समोषधयो रसेन,
सं रेवती र्जगतीभिः पृच्यन्तां, संमधुमती-
र्मधुमतीभिः पृच्यन्ताम्"॥ १। २१।

उपसर्जन्य इमा आपः पिष्टरूपाभिरोषधीभिः संगच्छन्ताम्। ओषधयश्चैताः पिष्टरूपाः रसेनोपसर्जनीरूपेण संगच्छन्ताम्। तथा चैतावता रेवत्यो नाम दिव्या आपो जगत्यो नाम पार्थिव्य आपश्चान्योन्यं संपृक्ताः भवन्तु। उभयविधाना मपां रसवदन्योन्यसमन्वयादेकरसत्वं भवतु।

॥ इति हविः पेषणादिः॥ १३॥

१४–अथ संयवनादिः

"समापो अद्भिरग्मत्, समोषधयो रसेन, संरेवती र्जगतीभिः—मधुमती र्मधुमतीभिः सृज्यध्वम्"—इति तैत्तिरीयाणां मन्त्रपाठः।

अद्भ्यः परिप्रजाताःस्थ, अद्भिःपृच्यध्वम्"

इति मन्त्रेण ते पिष्टरूपास्ता ओषधीरद्भिरनु—

पर्य्याप्लावयन्ति। पिष्टस्य सर्वत आर्द्रीकरणं परिप्लावनम्।

नैतन्माध्यन्दिनीया इच्छन्ति।

अथ संयौति। अपां पिष्टानां च संमिश्रणं संयवनम्

तत्रोभव प्रत्याह—

"जनयत्यै त्वा संयौमि"॥ १। २२।

शुक्रशोणितसंमिश्रणेन यथा प्रजा जन्यते तथा पुरोडाशं जनयितुं त्वां संमिश्रयामि।

अथैवं संमिश्रितस्य पिण्डस्य समविभागेन द्वौ पिण्डौ कृत्वा पुनरमेलयिष्यन्नेकैकं देवतानाम्ना क्रमेणाभिमृशति—

"इदमग्नेः । इदमग्नीषोमयोः" ॥ १ । २२ ।

अनसस्तावन्नामग्राहं पृथगिवान्नमुष्टिमगृह्णन्, तत् सहावाघ्नन्, सहापिंषन् । अथेदानीं तत्पुनर्नाना करोति । अग्नीषोमयोरुभयोर्व्यासक्तमिदमेकं देवतात्वम् । दर्शे हीमेद्वे देवते—अग्निश्चाग्नीषोमौ चेति । पौर्णमासे पुनरन्ये द्वे देवते—अग्निश्चेन्द्राग्नी चेति । तेन तत्र यथा देवतं मन्त्रोहः— इदमग्नेः, इदमिन्द्राग्न्योरिति ।

अथाज्य प्रविलापनार्थमग्नौ तावदाज्यपात्रमधिश्रयति । हे आज्य !

"इषे त्वा" । १ २२ । प्रविलापयामि ।

अथैतदुद्वासयति । हे आज्य !

"ऊर्ज्जे त्वा"* ॥ १ । २२ । उद्वासयामि ॥

अन्नरस इट् । तत्परिणाम रसस्तूर्क् ।

अथान्यः पुरोडाशमधिवृणक्ति गार्हपत्ये । रजस्वलायामनालम्भुकायां तु पत्न्या माहवनीयेऽधिश्रयति । हे पुरोडाश !

"धर्म्मोऽसि विश्वायुः" ॥ १ । २२ ॥

आप्यमाणस्त्वं प्रदीप्तत्वात् प्रवर्ग्यरूपोऽसि पूर्णं चायुस्त्वत्तो लभ्यते ॥

अथ सर्वकपालेषु संश्लेषयितुमिव तं प्रसारयति । हे पुरोडाश त्वम् !

"उरुप्रथा उरुप्रथस्व, उरुते यज्ञपतिः प्रथताम्" ॥ १ । २२ ।

बहुप्रसरणस्वभावोऽसीति यथेच्छं प्रसर, यजमानश्च तवायं प्रजापश्वादिभिर्यथेच्छं प्रसरतु यावत्कपालमेव तं प्रथयेत् नातोऽत्यन्तम् । यावन्तमेव स्वयं मनसा न मन्त्रा पृथुं मन्येत तथा कुर्य्यात् । तत्रेदं त्रितयं सह क्रियते १—आग्नेयपुरोडाशाधिश्रयणमध्वर्य्युः । २—अग्नीषोमीय पुरोडाशाधिश्रयणमग्नीत् । ३—अथाज्याधिश्रयणं ब्रह्मा करोति । सति संभवेत्वध्वर्य्युरेवाज्यम् ।

अथ पुरोडाशमद्भिरभिमृशति सकृत् त्रिर्वा । सकृन्मन्त्रेण, द्विस्तूष्णीम् । हे पुरोडाश !

"अग्निष्टे त्वचं मा हिंसीत्" ॥ १ । २२ ।

अग्निना श्रपणायाभितप्स्यन् संभाव्यमानं त्वग्दाहं वारयितुमवधत्ते । अथैतं पर्य्यग्निं करोति ।

॥ इति संयवनादि ॥ १४ ॥

*ऊर्ज्जे त्वेति मन्त्र भागः संहितायां मन्त्र नाम्नायते ।

१५—अथ श्रपणम्

अथ श्रपयति हे हविः !

"देवस्त्वा सविता श्रपयतु वर्षिष्ठेऽधिनाके" ॥ १ । २२ ।

सविता देवोऽत्यन्तवृद्धे द्युलोकस्थे नाकाग्नौ त्वां परिपक्वं करोतु ॥

"दिविनाको नामाग्नी रक्षोहा" इत्याह तित्तिरिः ।

अथ शृतं वेदानीत्येतमभिमृशति—

"मा भेर्मा संविक्थाः" ॥ १ । २३ ।

अमानुषं सन्तं त्वा मह्‌ं मानुषोऽभिमृशामीति हेतो रुद्वेगस्तेमाभूत् ।

अथ शृतंसन्तमभिवासयति भस्मना वेदेनोपवेषेण वाऽनग्नतायै रक्षो नाष्ट्रा नवदृष्ट्यै वा ॥

"अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजाभूयात्" ॥ १ । २३ ।

नेदेतदभिवासनमनुयज्ञोऽयं ग्लानि मेयात् । अग्लानिं चैतं यज्ञमनु यजमानस्य पुत्र पौत्रादिरप्यग्लानिर्भूयात् ॥

॥ इति श्रपणम् ॥ १५ ॥

१६—अथ पात्रीनिर्णेजनम्

अङ्गुलिप्रणेजनजलं पात्रीस्थमेवोल्कया तापयित्वा प्रत्यगसंस्यन्दमान माप्त्येभ्यो निनयति प्रतिमन्त्रम् । हे पिष्टलेप ! निनयामि—

"त्रिताय त्वा, द्विताय त्वा, एकताय त्वा" ॥ १ । २३ ॥

संवत्सरो नाम अग्निरेको वृत्तिभेदाच्चतुर्धा प्रतिपद्यते—छन्दोग्निः[1], ऋत्वग्निः[2], ब्रह्माग्निः[3], आहवनीयाग्नि[4] रिति । तत्र छान्दसोऽग्निः सप्तावयवो गान्धर्वः । अथार्त्तवोऽग्निः पञ्चावयव ऐन्द्रः । अथ ब्राह्मणोऽग्निः सांतपनो मैत्रावरुणः । भुवः पतिः, भुवनपतिः, भूतानां पति रित्येतेषां नामानि । त्रयोऽप्येते वषट् कारेण प्रवृक्ता निर्वषट्कारतया यज्ञभाजोन संभवन्तीति स्वयं पृथिव्याः सकाशाद् द्युपर्य्यन्तं हव्यं वोढुमसमर्थाः होतारो न भवन्ति ।

अथ चतुर्थोऽयमाहवनीय आदित्यो द्यावापृथिव्योरदितिमभिसंचरन् परितः समुद्रेऽप्सु प्रविश्य निलिनाति । तं देवा अनुविद्य सहसैवअद्भ्य आनयन्ति । बलादानीतः सोऽवश्यं

केनचित् भागेनापोऽभितिष्ठेत्र। प्रथमाहरणे यावदूपोभितिष्ठेत्र स त्रितः। द्वितीयाहरणे यावत् स द्वितः। तृतीयाहरणे यावत् स एकतः। अप्सु निलीनत्वा दापोमया हीमे बभूवुरित्याप्त्याः। देवैर्यात्रानयमाप्तस्ततोऽवशिष्टा हीतिवात आप्त्याः। त इन्द्रेण सह चेरुर्यथेदं ब्राह्मणो राजानमनुचरति। आप्य प्राणा असुरा नामेष्यन्ते। स यत्रायमैन्द्रः प्राणः प्राणानासुरान् प्रत्याहन्ति शश्वद्ध तत्रैनांस्त्रितो हन्ति, अन्तर्यामिनाप्सु प्रविष्टत्वात्। यद्घ्नन्ति तेनैतेष्वासुरः प्राणो हतः शेते। एनो हि आसुरः प्राणः। तेनामी एनस्विनो भवन्ति। इन्द्रोऽयमादित्य प्राणो योऽयमाहवनीयोऽग्निः स यज्ञः। तमन्वाप्त्याः परिचरन्तस्तिष्ठन्ति। तथाचात्र यज्ञे यद्येनः किंचित् संजिगमिषति, तदाप्त्येषु निनीयते, तदाप्त्या एवोपगच्छन्ति। तदेष्वेतद्यज्ञो। मृष्टे। दक्षिणा हि यज्ञस्य प्राणा वीर्य्यम्। तेन वीर्य्येणायं दक्षो भवन्नेनः, परितो निनयन्नाप्त्येषु यज्ञो मृष्टे। अथ यः पुनर दक्षिणो यज्ञः, तत्र वीर्य्यं नास्तीत्याप्त्या एवैतस्मिन्नेनः प्रत्यर्घ्यं मृजते। दक्षिणयातु यज्ञोऽग्निर्दक्षते। स एनांस्याप्तयेषु परिचरेषु त्रिषु निनीय परिशुद्धो भवन् वीर्य्यवान् साधुहव्यं वोढुं समर्थते। हव्यं वहन्तं तु होतारमेतमहोतारोऽन्ये त्रयोऽग्नयः परितो लम्बिताः परिधयो भवन्ति। छान्दस आर्त्तवः सांतपनश्चेति। त एते यज्ञशरीरमभितो व्यवच्छेदयन्ति। एत एव चान्यत्र प्रयाजानुयाजा उपपद्यन्ते। पञ्चर्तवः प्रयाजास्त्रयोऽनुयाजाश्छन्दांसि। अपि वा द्वादशाग्नयः प्रयाजानुयाजाः—इत्याहु।

अथैतद्दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणार्थमत्रावसरेऽन्वाहार्यमोदनमृत्विजां ब्राह्मणान मशनाय दक्षिणाग्नावधिश्रपयति। द्विविधा हीमे यज्ञे देवा इष्यन्ते। अधिदैवतमाग्नेयप्राणाः, अधियज्ञं यज्ञ कर्तृतया दक्षिणाक्रीता ऋत्विग्ब्राह्मणाश्चेति। तेषां यज्ञयुक्तानां पशुस्थो मेध एवान्नमिष्यते यज्ञवीर्य्योपयोगित्वात्। पशुष्वेव तु केषुचित् समेधो लभ्यते। मेधयोगाश्चायं पांक्तः पशुरन्नमिति स्थितिः। द्विविधाहीमे पशवो भवन्ति। सेन्द्रियप्रज्ञा अनिन्द्रिय प्रज्ञाश्च। तत्र तावत् सेन्द्रियेषु पञ्चैव तु मेध्याः पशवो देवानामन्नं मेधयोगात्। पुरुषः, अश्वः, गौः, अविः, अज इति। अतएवाहुः पांक्तः पशुरन्नमिति। मेधा प्स्येते पंचान्नं देवानाम्। सोऽधिदैवतं यत्र पुरुषमेधमात्मन्यालेभिरे सोऽपक्रान्तमेधः किंपुरुषो नामा मेध्यः पशुरजायत। एवं यत्राश्वमेधमात्मन्यालेभिरे सोऽपक्रान्तमेधो गौरो नामा मेध्यः पशुरजायत। यत्र च गोमेधमात्मन्यालेभिरे, सोऽपक्रान्तमेधो गवयो नामा मेध्यः पशुरजायत। अविमेधालम्भनाद् अपक्रान्त मेधोऽय उष्ट्रो नामामेध्यः पशुरजायत। अजमेधालम्भनादपक्रान्तमेधोऽयं शरभोनामा मेध्यः पशुरजायत। यज्ञवीर्य्यार्थं मेधप्राणलाभाय तु मेध्याः पशव आलब्धव्या भवन्ति। अपक्रान्तमेधास्त्वेते पशवः सन्तीति नैते देवेभ्यो देयाः। अपि च नैषां पशूनां माँसमश्नीयात्। अथैतेषाँ मेधा अनिन्द्रियेषूप

लभ्यन्ते। यथा व्रीहियवयोः। यावद्वीर्य्यवद्वा वा अस्यैते सर्वे पशव आलब्धाःस्युस्तावद् वीर्य्यवद्वास्य हविरेव भवति व्रीहे वायवाद्वा। स एष एव हि पांक्तः पशुरुपपद्यते ॥

इति हविः करणादि–पात्रीनिर्णेजनान्तानाम्। एकादशकर्म्मणां विधायकं पुरोडाश ब्राह्मणं पूर्णम् ॥ १६ ॥

१७—अथ वेदिनिर्म्माणम्

अथ स्फ्यमादत्ते। तत्रापि न स्वहस्ताभ्यां, किंतु देवविशेषहस्ताभ्यां गृह्णामीत्यावेदयितुं प्रस्तौति—

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यां, आददेऽध्वरकृतं देवेभ्यः" ॥ १ । २४ ।

वेदिखननादिद्वारेण यज्ञसंपादकं स्फ्यं देवोपकारोद्देश्येन गृह्णामीत्याह।

अथैनत् सतृणं सव्ये कृत्वा दक्षिणेनालभ्य जपति। हे स्फ्य! त्वम्—

"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः, सहस्रभृष्टिः
शततेजाः वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतोबधः" ॥ १ । २४ ।

इन्द्रेण बाहुना धृतत्वात्तत्समानवीर्य्योपेतत्वाद्वा त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि सहस्रमितानामपि शत्रूणां नाशको बहुधा दीप्यमानश्च। किंच यथा वायुर्वह्निं प्रदीप्य तीव्रां ज्वालामुत्पादयंस्तीव्रतेजा भवति। एवं त्वमपि स्तम्बच्छेदरूपं कर्म कुर्वन् तीव्रतेजाः कर्मद्वेषिणामसुरादीनां हन्ता चासीत्याह ॥

अथ तृणेऽन्तर्हिते स्फ्यनैतेन प्रहरति—

"पृथिवि देवयजनि ओषध्यास्ते मूलं मा हिंसिषम्" ॥१। २५।

हे देवयजनकरणाधिभूते पृथिवि! तत्रौषध्यास्तृणरूपाया मूलमहं मा विनाशयामीत्याह।

अथ पुरीषमादत्ते। स्फ्यप्रहारोत्पन्नामृत् पुरीषमुच्यते। हे पुरीष!

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" ॥ १ । २५ ।

यत्र गावस्तिष्ठन्ति तथाविधं गोसञ्चारप्रदेशं गच्छेत्याह। अथ वेदिं प्रोक्षति। हे वेदे!

"वर्षतु ते द्यौः" ॥ १ । २५ ।

खननजनितदुःखशान्त्यर्थमिव द्यौर्देवस्त्वदर्थं जलसेकं करोत्वित्याह।

अथ स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे त्यजेत्।

"वधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्या
शतेन पाशैः, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं
द्विष्मः तमतो मा मौक्"—॥ १ । २५ ।

हे सवितर्देव ! योऽस्माकं द्वेषं करोति, यस्य च वयं द्वेषं कुर्मः, तमुभयविद्यमपि शत्रुमन्तिमायां पृथिव्यामन्धे तमसि शतसंख्याभिर्बन्धनरज्जुभिर्वधान। तस्माच्चैतस्मादन्धतामिस्रान्नरकात् तमेनं कदापि मा मुञ्चेत्याह। अन्धे तमसि बधानेति। यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति श्रुतिः १।२।४।१६।२५॥

अत ऊर्ध्वं स्फ्येन द्वितीयं प्रहरति—

"अपाररुं पृथिव्यै देवयजनाद्बध्यासम्"—१।२६।

पृथिव्या सम्बन्धिनो देवयजनाख्याद्वेदिस्थानादररुं नामासुरमपबध्यासम्। अपनीय यथा हतो भवति तथा करवाणीत्याह।

अथ पुरीषमादत्ते—हे पुरीष !

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्"—१।२६।

यत्र गावस्तिष्ठन्ति तादृशं गोसञ्चार देशं गच्छेत्याह।

अथ वेदिं प्रोक्षते—

"वर्षतु ते द्यौः"—१।२६।

खनन जनित दुःख शान्त्यर्थमिव द्यौर्देवस्त्वदर्थं जलसेकं करोत्वित्याह।

अथ स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे करोति—

"बधान देव सवितःपरमस्यां पृथिव्यां,
शतेन पाशैः, योऽस्मान् द्वेष्टि यं च
वयं द्विष्मः तमसा मा मौक्" ।१।२६।

उत्करे क्षिप्तायां धूल्यां निगूढस्य शत्रोस्तत्र बन्धनं कुरु। यत्र भूमेरन्तिमप्रदेशेऽन्धतामिस्रो नाम नरकोऽस्ति, बद्धं चैनमस्मात् स्थानात् कदापि मा मुञ्चेत्याह।

अथ तमुत्करमग्नीदभिन्यस्यति—

"अररो दिवं मा पप्तः"—॥ १ । २६ ।

हे अररो असुर ! यागफलरूपे स्वर्गे त्वया न गन्तव्यमित्याह ।

अथ ऊर्ध्वं स्फ्येन तृतीयं प्रहरति—

"द्रप्सस्ते द्यां मा स्कन्" ॥ १ । २६ ।

हे वेदि देवते ! पृथिवीरूपायास्तव द्रप्स उपजीव्यो रसोद्युलोकं मा स्कन्दतु मा गच्छतु इत्याह ।

अथ पुरीष मादत्ते । हे पुरीष !

"व्रजं गच्छ गोष्ठानम्" ॥ १ । २६ ।

अथ वार्द प्रोक्षते—हे वेदे !

"वर्षतु ते द्यौः" ॥ १ । २६ ।

अथ स्फ्योत्खातां मृदमुत्करे करोति—

"बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां
शतेन पाशैः, योऽस्मान् द्वेष्टि, यंच वयं द्विष्मः
तमतो मा मौक्" ॥ १ । २६ ।

अथ यस्मात् प्रदेशात्—अररुर्निष्काशितः, तत्र वेदेरियत्तां निश्चेतुं स्फ्येन दक्षिणादि-दिक्त्रये क्रमेण रेखात्रयकरणं पूर्वः परिग्रहः । तत्र विष्णुर्देवता, ते प्राञ्चं विष्णुं निपाद्य छन्दोभिरभितः पर्य्यगृह्णन्निति श्रुतेः । (१.२.५.६) तत्र दक्षिणतस्तावत्पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति । हे विष्णो !

"गायत्रेण त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" ॥ १ । २७ ।

अथ पश्चिमतः—

"त्रैष्टुभेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" ॥ १ । २७ ।

अथोत्तरतः—

"जागतेन त्वा च्छन्दसा परिगृह्णामि" ॥ १ । २७ ।

गायत्र्यादिच्छन्दस्त्रयरूपतया भावितेन स्फ्येन दिक्त्रये परिगृह्णामीत्याह ।

देवाश्चासुराश्च उभये प्राजापत्याः पूर्वं स्पर्धां चक्रुः । तदा देवान् परिजितान्मत्वा भूमिमसुरा विभेजुः । तदा देवा व्यचिन्तयन्, के ततः स्याम, यदि वयमस्या भागं न भजेमहीति ।

ततो वामनरूपं विष्णुमग्रे कृत्वाऽसुरानागत्य "अस्मभ्यमपिभूम्यंशो दातव्यः" इति तानयाचिषुः ततोऽसुरा असूयन्त इव "अयं विष्णुर्यावति भूभागे शेते तावान् भवदीयोऽस्तु" इत्यूचुः। ततो देवा बह्वेतदस्माकमित्युक्त्वा प्राञ्चं विष्णुं निपात्य छन्दोभिरभितः पर्यगृह्णन् यथास्य पूर्वस्या माहवनीयोऽग्निरेवान्यत्र तु दिक्त्रये छन्दोदेवता असुरेभ्यः पालको भविष्यतीति। तदित्थं ते यज्ञभूमिं जगृहुः। यज्ञो वै विष्णुः स यत्र तिष्ठति सैव यज्ञभूमिरिति तैर्विदितत्वादियं भूमिर्वेदिरित्युच्यते इतिश्रुतेः (१,२,५,१,७) वेदेरेव दिक्त्रये पूर्वं परिग्रहं परिगृह्णाति।

अतः परमुत्तरं परिग्रहं परिगृह्णाति। वेदिखननात्पूर्वं क्रियमाणः पूर्वः परिग्रहः, पश्चात् क्रियमाण उत्तरः परिग्रहः। तत्रापि पूर्ववत् दिक्त्रये स्फ्येन रेखात्रयं कार्यम्। तत्र तावद्दक्षिणत परिगृह्णाति। हे वेदे त्वम्!

"सुक्ष्मा चासि शिवा चासि" ॥ १। २७।

खननेनाश्मादिदोषनिवर्त्तनाच्छोभना भूमिरसि। उग्रस्यासुरस्य निष्कोशनेन शान्ता चासीत्याह।

अथ पश्चिमतः—

"स्योना चासि सुखदा चासि" ॥ १। २७।

सुखरूपासि, देवानां सम्यगुपवेशनयोग्या चासीत्याह।

अथोत्तरतः—

"ऊर्ज्जस्वती चासि पयस्वती चासि" ॥ १। २७।

अन्नवती दध्यादि गव्यवती चासीत्याह ॥६।२७॥

अथ खातायां वेद्यां लोष्ठकृतवैशम्यनिवृत्तये समीकरणरूपं मार्जनं कुर्यात्। तत्र यज्ञो वेदित्वं प्राप्तो विष्णुः संबोध्य प्रार्थ्यते—

"पुरा क्रूरस्य विस्टपो विरप्शिन्नुदा-
दाय पृथिवीं जीवदानुम्।
यामैरयंश्चन्द्रमसि स्वधाभिस्तामु
धीरासो अनुदिश्य यजन्ते" ॥ १। २८।

हे विरप्शिन् हे महन् भगवन्विष्णो! पूर्वं नानायोधसंकुलस्य संग्रामस्य मध्यात् देवा जीवस्य धात्रीं सारभूतां पृथिवीमूर्ध्वं गृहीत्वा वेदैः सह चन्द्रमसि प्राक्षिपन्। तामेव चन्द्रस्थां

पृथिवीं दर्शनेन संपाद्य सैव भूमिरस्यां वेद्यां विद्यते इति भावयित्वा विद्वांसो यागं कुर्वन्तीत्याह ॥

"सङ्ग्रामो वै क्रूरम" (श० १, २, ५, १६) इति । "चन्द्रमसि ब्रह्मणा दधुरिति च श्रुतिः। अत्रेयमाख्यायिका श्रूयते (१,२,५,१८)

कदाचिद्देवानामसुरैः सह संग्राम उपस्थितः । तदा देवैर्मिथो मन्त्रितं—यदस्या भूमेरुत्कृष्टं देवयजनस्थलं तच्चन्द्रे संस्थाप्य युद्धं कुर्म्मः । तत्र यद्यप्यस्माकं पराजयः स्यात् तदा देवयजने यागं विधाय पुनर्दैत्यपराजयं करिष्याम इति संमन्त्र्य भूमेः सारभागं देवयजनं चन्द्रे स्थापयामासुः, तत्कृष्णवर्णमिदानीमपि दृश्यते—इत्याख्यानमयं मन्त्रो दर्शयति ।

अथाग्नीध्रं प्रति प्रैषः—

"प्रोक्षणीरासादय" २ ॥ १ । २८ ।

याभिः प्रोक्ष्यन्ते ता अपो वेद्यां स्थापयेत्याह ।

ततः स्फ्यमुदञ्चं प्रहरति । हे स्फ्य ! त्वम्—

"द्विषतो बधोऽसि" ३ ॥ १ । २८ ।

शत्रोर्हिंसकोऽसीत्याह ॥ ३ ॥ २८ ॥

॥ इति वेदिनिर्म्माणम् ॥ १७ ॥

१८—अथ पात्रप्रतपनम्

अतः परं यथा शूर्पाग्निहोत्रहवण्योः प्रतपनं कृतं तथा स्रुवस्यापि कुर्वन् जपति—

"प्रत्युष्टं रक्षः प्रत्युष्टा अरातयः
निष्टप्तं रक्षो निष्टप्ता अरातयः" १ इति ॥ १ । २६ ।

अथ वेदाग्रैरन्तरतः प्राक् सम्मार्ष्टि—

"अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्,
वाजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि" २ ॥ १ । २६ ।

हे स्रुव ! नितरां तीक्ष्णीकृतो निशितस्तीक्ष्णोपद्रवकारी तथा न भवसि । यतस्त्वमस्माकं शत्रुक्षयकरोऽसि । तथाविधं यज्ञद्वारा अन्नहेतुत्वादन्नवन्तं वा त्वां यज्ञस्य दीप्त्यै सम्यक् शोधयामीत्याह ।

शोधितेन हि स्रुवेणाज्ये गृहीते हुते च सति अग्निर्दीप्यते, तद्दीप्त्याहुतिफलभूतमन्नं प्रकाशितं भवति। अतः परमेवमेव जुहूपभृद्ध्रुवाख्यास्तिस्रोऽपि स्रुचः प्रत्येकम्—

"प्रत्युष्टं रक्षः, प्रत्युष्टा अरातयः,
निष्टप्तं रक्षो, निष्टप्ता अरातयः" ३ ॥ १ । २९ ।

इति जपन् प्रतप्य प्रतप्य—

"अनिशितासि सपत्नक्षिद्वाजिनीं
त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मि" ४ ॥ १ । २९ ।

इति संमृज्य वेद्यां स्थापनार्थमध्वर्य्यवे प्रयच्छति।

"योषा वै स्रुग् वृषा स्रुवः" (श० १,३,१,९) इत्यादि श्रुतेः स्रुवस्य पुंस्त्वादादौ संमार्जनं स्रुचां तु स्त्रीत्वात्पश्चात् ॥ ४ । २९ ॥

॥ इति पात्र प्रतपनम्॥ १८ ॥

१९—अथ पत्नी संहननम्

ततः पत्नीं संनह्यति प्रत्यग् दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्यधीवासः।

"अदित्यै रास्नासि" १ ॥ १ । ३० ।

हे योक्त्र! त्वम्—भूम्या रशना भवसीत्याह ॥

दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्द्ध्वमुद्गूहति।

"विष्णो वेंष्पोऽसि" २ ॥ १ । ३० ।

हे दक्षिणपाश! त्वम्—यज्ञस्य व्यापकोऽसीत्याह।

तत आज्यमुद्वासयेत्—हे आज्य!

"ऊर्जे त्वा" ३ ॥ १ । ३० ।

उत्तमरसलाभाय त्वामुद्वासयामीत्याह। भवति हि विलापितं घृतं सुस्वादु।

ततः पत्नीमाज्यमवेक्षयति—हे आज्य!

"अदब्धेन त्वा चक्षुषाऽवपश्यामि, ४ ।
अग्नेर्जिह्वासि सुहूर्देवेभ्यो, ५ धाम्ने धाम्ने
मे भव यजुषे" ६ ॥ १ । ३० ।

अनुपहिंसितेन चक्षुषा त्वामवपश्यामि, अवाचीनं यथा तथाधोमुखी सती पश्यामि। त्वं हि खलु अग्नेर्जिह्वा भवसि--यदाज्यमग्नौ हूयते तदा जिह्वेव ज्वालोत्पद्यते, सा हि जिह्वा देवेभ्योऽर्थाय सुहूः, अनया खलु देवाः सुष्ठु आहूयन्ते। यद्वा सुष्ठु हुयसे इति कृत्वा त्वमसि देवेभ्यः सुहूः स त्वं मम तत्तद्यागफलोपभोगस्थानसिद्ध्यर्थं तत्तद्यागसिद्ध्यर्थं च भवेत्याह ॥ ६ । ३० ॥

अथाज्यमुत्पुनाति।

"सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण
पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" १ ॥ १ । ३१ ।

हे आज्य! सवितुर्देवस्याज्ञायां वर्तमानोऽहं पवमानेन सूर्य्यकिरणैर्वा त्वां शोधयामीत्याह ॥

एवं प्रोक्षणीरप्युत्पुनाति। हे प्रोक्षण्यः!

"सवितुर्वः प्रसव उत्पुनामि अच्छिद्रेण
पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" २ ॥ १ । ३१ ।

तत आज्यमवेक्षते। हे आज्य! त्वम्--

"तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि" ३ ॥ १ । ३१ ।

शरीरकान्तिहेतुत्वात्तेजोरूपमसि। स्निग्धरूपत्वाद्दीप्तिमदसि, तथा बहुदिवसावस्थानेऽपि पर्युषितत्वादिदोषसंसर्गेण विनाशरहितमसीत्याह।

ततः स्रुवेण चतुर्जुह्वामाज्यं गृह्णीयात्—हे आज्य! त्वम्—

"धाम नामासि, प्रियं देवानामनाधृष्टं
देवयजनमसि" ४ ॥ १ । ३१ ।

देवानां चितवृत्तिनिधानस्थानमसि। किंच, आज्यं दृष्ट्वा सर्वेऽप्यत्तुं नमन्तीत्यात्मनं प्रति भूतानां नमनकर्तृ, भवसि, एवं देवानामिष्टमसि, यथा चरुपुरोडाशादीनि चिरस्थित्या गतसाराणि तिरस्कृतानि स्युर्नैवं त्वमपि तिरस्कृत भवसीत्यनाधृष्टमसि, देवानां यागसाधनं चासीत्यत ईदृशं त्वां गृह्णामीत्याह ॥ ४ ॥ ३१ ॥

अतः परमिध्मं विस्रंस्य प्रोक्षेत्—

"कृष्णोऽस्याखरेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं
प्रोक्षामि" १ ॥ २ । १ ।

हे इध्म! त्वम् कृष्णमृगरूपो यज्ञोऽसि--इध्मपूकस्य यज्ञसाधनत्वाद्यज्ञत्वोपचारः।

एवमेव त्वं समन्तात्कठिनवृत्तस्थायित्वादाखरेष्ठोऽसि। अतोऽग्नये प्रियं त्वां शुद्ध्यर्थं जलेन प्रोक्षामीत्याह।

यज्ञः कदाचिद्देवेभ्योऽपक्रान्तः स्वगोपनाय कृष्णमृगो भूत्वा वने यज्ञियतरुमध्ये प्रविश्य कुत्रचित्कठिने वृक्षे तस्थौ—इति श्रुतावाम्नातम्। (श० १। १। ४। १)

अथ वेदिं प्रोक्षेत्—

"वेदिरसि बर्हिषे त्वा जुष्टां प्रोक्षामि" २॥ २। १।

हे वेदे! बर्हिषो धारणोपयोगितया प्रियां त्वां प्रोक्षामीत्याह।

अथ बर्हिरादाय वेद्यां पूर्वग्रन्थि कृत्वा प्रोक्षेत्। हे दर्भ! त्वम्—

"बर्हिरसि स्रुग्भ्यस्त्वा जुष्टं प्रोक्षामि" ३॥ २। १।

प्रभूतत्वाद्वेदिबृंहणसमर्थमसि। अतः स्रुचां धारणात् प्रियं त्वां प्रोक्षामीत्याह।

शेषं जलं मूलेषूपसिञ्चति—हे प्रोक्षणशेषोदक—

"अदित्यै व्युन्दनमसि" १॥ २। २।

त्वं भूम्या विशेषेण क्लेदनमसीत्याह।

ततो बर्हिर्विस्रंस्य पुरस्तात् प्रस्तरं गृह्णाति। हे दर्भमुष्टिरूप प्रस्तर! त्वम्—

"विष्णो स्तुपोऽसि" २॥ २। २।

दर्भसंघातरूपत्वात्केशसंघातरूपा यज्ञस्य शिखेव भवसीत्याह।

ततस्तेन वेदिं स्तृणाति—

"ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां
देवेभ्यः" ३॥ २। २।

हे वेदे! ऊर्णवन्मृदुतरां देवार्थे सुखेनासितुं स्थानभूतां त्वां बर्हिषा छादयामीत्याह।

अथ हविर्ग्रहणकाले परिधिभ्यो बहिर्यद्धविः स्कन्नं तद् भुवपत्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽग्नेर्भ्रातृभ्यो दीयते—

"भुवपतये स्वाहा—भुवनपतये स्वाहा—
भूतानां पतये स्वाहा" ४॥ २। २।

स्वाहाकारं च वषट्कारं च देवा उपजीवन्तीति श्रुतेर्देवान्प्रति यद्दीयते तत्स्वाहाशब्देनाह।

इमे हि भुवपत्यादयस्त्रयोऽग्नेर्भ्रातरः। ते पुरा वषट्कारभयाद् भूमिं प्राविशन्। तद्दुःखेनाग्निरपि पलाय्योके प्राविशत्। ततो देवैरानीय स्वाधिकारे स्थाप्यमानोऽयमवदत्।

"एतैर्मद्भ्रातृभिर्मा परिधत्त, एषां च यज्ञभागः कल्पताम्" इति। ततस्तेऽग्नेर्भ्रातरः परिधयो जातास्तेषां च स्कन्नं हविर्भागः कृतः इति श्रूयते। (श० १।३।३।१३-१६)॥४।३३॥

ततो मध्यम दक्षिणोत्तरान् परिधीन् परिदध्यात्। तत्रादौ पश्चिमतः—हे परिधे!

"गन्धर्वस्त्वा विश्वावसुः परिदधातु
विश्वस्यारिष्ट्यै; यजमानस्य परिधि—
रस्यग्निरिड ईडितः" १॥२।३।

विश्वावसुनामा गन्धर्वः आहवनीयस्थानरूपस्य विश्वस्य परिध्यभावेऽसुराः प्रविश्य यथा मा हिंसेयुस्तथा रक्षितुमाहवनीयस्य पश्चिमतः त्वां स्थापयतु। किंच त्वं न केवल मग्नेः परिधिः किन्तु यजमानस्यापि परिधिरसि, यजमानमप्यसुरेभ्योरक्षितुं पश्चिमदिशिस्थापितोऽसि। किश्चाहवनीयस्य प्रथमो भ्राता भुवपति नामाऽग्निस्त्वमसि। स्तुतियोग्यस्त्वमसि। होत्रादिभिः स्तुतश्चासीत्याह—

अथ दक्षिणं परिधिं परिदधाति—

"इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्या-
रिष्टयै, यजमानस्य परिधिरस्यग्नि·
रिड ईडितः" २॥२।३।

हे द्वितीय परिधे! त्वमिन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि। भुवनपतीनामाग्निरसीत्याद्याह।

अथोत्तरं परिधिं परिदधाति—

"मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः परिधत्तां
ध्रुवेण धर्म्मणा विश्वस्यारिष्टयै,
यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिड ईडितः" ३॥२।३।

हे तृतीय परिधे! वाय्वादित्यौ स्थिरेण धारणेनोत्तरस्यां दिशि त्वां स्थापयताम्। त्वं च भूतानां पतिर्नामाग्निरसीत्याद्याह॥३।३४॥

अतः परं प्रथमं परिधिं समिधोपस्पृश्यादधाति—

"वीतिहोत्रं त्वा कवे, द्युमन्तं समिधी-
महि। अग्ने बृहन्तमध्वरे" १॥२।४।

हे कवे! हे अग्ने! अपत्यपशुधनादिभिः समृद्धिकरहोमं कान्तिमन्तं महान्तं च त्वां

योगे निमित्ते अनेनेध्मकाष्ठेन दीपयाम इत्याह। अतीतानागतदूरेवर्त्तिपदार्थानां यस्य युगपज्ज्ञानं स कविः॥ १। ३५॥

अथानुपस्पृश्य द्वितीयमादधाति। हे इहमकाष्ठ!

"समिदसि" १॥ २। ५।

त्वमग्नेः समिन्धनं दीपनमसीत्याह।

अथाहवनीयमीक्षमाणो जपति—

"सूर्य्यस्त्वा पुरस्तात्पातु कस्या-
श्चिदभिशस्त्यै" २॥ २। ५।

हे आहवनीय! पूर्वस्यां दिशि सर्वस्या हिंसायाः सकाशात्त्वां सूर्य्यः पात्वित्याह। अस्तिहि दिक्त्रये परिधित्रयं रक्षकम्, अथ पूर्वस्यां तदभावाद् सूर्य्यो रक्षकत्वेनोच्यते। तथा च श्रुतिः (श० १। ३। ४। ८)। "गुप्त्यै वा अभितः परिधयो भवन्ति। अथैतत् सूर्य्यमेव पुरस्तात् गोप्तारं करोति"

अतः परं प्रस्तरस्थापनार्थं तृणद्वयं तिर्यग् निदध्यात्। हे तृणे! युवामुभे—

"सवितुर्बाहू स्थः" ३॥ २। ५।

प्रस्तरधारणेन सूर्य्यस्य बाहू इव भवथः।

अथ तयोः प्रस्तरं स्तृणाति—

"ऊर्णा म्रदसं त्वा स्तृणामि
स्वासस्थं देवेभ्यः" ४॥ २। ५।

ऊर्णावन्मृदुतरं देवार्थे सुखेनासितुं स्थानभूतं त्वां स्तृणामीत्याह।

अथ प्रस्तरं प्रति पाणी निदधाति।

"आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्तु" ५॥ २। ५।

हे प्रस्तर! सवनत्रयाभिमानिनो वसुरुद्रादित्यास्त्रयो देवास्त्वामासदन्तु, सर्वतः प्रसारयन्त्वित्याह॥ ५। ३६॥

अतः परं सव्याशूस्ये जुहूं प्रतिगृह्य निदधाति। हे जुहु!

"घृताच्यसि जुहूर्नाम्ना, सेदं प्रियेण
धाम्ना प्रियं सद आसीद" १॥ २। ६।

हे जुहु! त्वं घृतपूर्णा भवसि नाम्ना च जुहूः। सा त्वं देववल्लभेनाज्येन सह इदं प्रस्तरलक्षणं प्रियं सदोऽधितिष्ठेत्याह। एतद्वै देवानां प्रियतमं धाम यदाज्यं इति श्रुति (श. २।३।२।१७)

एवमुपभृतं सादयति। हे उपभृत्! त्वम्—

"घृताच्यस्युपभृन्नाम्ना, सेदं प्रियेण
धाम्ना प्रियं सद आसीद" २ ॥ २ । ६ ।

अथैवमेव ध्रुवां सादयति। हे ध्रुवे!

"घृताच्यासि ध्रुवा नाम्ना, सेदं प्रियेण
धाम्ना प्रियं सद आसीद" ३ ॥ २ । ६ ।

यया हूयते सा जुहूः। या च समीपे स्थित्वा धारयत्याज्यं सोपभृत्। या तु होमार्थं जुहूपभृताविव न चलति सा स्थिरत्वाद् ध्रुवा।

ततो हवींषि वेद्यां कुर्यात्—हे हविः! त्वम्—

प्रियेण धम्ना प्रियं सद आसीद ४ ॥ २ । ६ ।

इत्येवमेकैकं हविरामन्त्र्य वेद्यां कृत्वा सर्वाणि हवींषि पश्चादात्मानं चालभेत्—

"ध्रुवा असदन्नृतस्य योनौ, ता विष्णो
पाहि, पाहि यज्ञं, पाहि यज्ञपतिं, पाहि
मां यज्ञन्यम्" ५ ॥ २ । ६ ।

हे विष्णो! हे यज्ञपुरुष? अवश्यं भाविफलोपेतत्वेन सत्यस्य यज्ञस्य स्थाने यानि हवींषि ध्रुवाण्यतिष्ठन् तानि रक्ष, यज्ञं रक्ष, यज्ञपतिं रक्ष, तथाऽध्वर्युं मामपि रक्षेत्याह ॥ ५ । ३७ ॥

अतः परमिध्मसंनहनै स्नुपरिधि तिस्रिः परिक्रम्य संमार्ष्टि—

"अग्ने वाजजिद्वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाज-
जितं संमार्ज्मि" १ ॥ २ । ७ ।

हे अन्नजित्! हे अग्ने? अन्नमुद्दिश्य गमिष्यन्तमन्नसंपादनोपयुक्तं तथा अन्नमुद्दिश्य जयोपेतमन्न प्रतिबन्धनिवारकं त्वामहं शोधयामीत्याह।

ततो देवान् पितृंश्चोपचरेत्—तत्रापरमाहवनीयादञ्जलिं प्राङ्मुखः करोति—

"नमो देवेभ्यः" २ ॥ २ । ७ ।

अस्त्विति वाक्यशेषः।

ततः पितृनत्यर्थं दक्षिणामुख उत्तानमञ्जलिं कुर्यात्—

"स्वधा पितृभ्यः" ३ ॥ २ । ७ ।

अस्त्विति वाक्यशेषः ।

ततो जुहूपभृतावादाया मन्त्रयेत् हे जुहूपभृतौ—

"सुयमे मे भूयास्तम्" ४ ॥ २ । ७ ।

युवां मदर्थं सुष्ठु निग्रते भवतम् । यथा युवयोः स्थितमाज्यं न स्कन्देदित्याह ॥४।३८॥

तथा सति—

"अस्कन्नमद्य देवेभ्य आज्यं संभ्रियासम्" १ ॥ २ । ८ ।

अद्यानुष्ठानदिने देवोपकाराय युवयोः स्थितमाज्यं भूमौ यथा न स्कन्दति तथा सम्यक् पोषणं धारणं वा क्रियास मित्याह ।

ततो दक्षिणातिक्रामति —

"अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वा वक्रमिषम्" २ ॥ २ । ८ ।

हे विष्णो ! हे यज्ञ पुरुष ! त्वामहं पादेन माऽवक्रमिषमिति । पादेनातिक्रमणदोषो मे मा भूदित्याह ।

तत आहवनीयसमीपवर्तिस्थानेऽवस्थाय जुहोति । तत्र तावदवतिष्ठमानो ब्रूयात्—

"वसुमतीमग्ने ते छायामुपस्थेषं
विष्णोः स्थानमसि" ४ ॥ २ । ८ ।

हे अग्ने ! तव छायावत्समीपवर्तिनीं भूमिमहमुपतिष्ठेयम्—

हे वसुमति ! हे भूमे ! त्वं यज्ञस्य स्थानमसि, यत्र स्थित्वा यागः कर्तुं शक्यते इत्याह। अथवा हे अग्ने ! धनवतीं तव छायामुपस्थेषमिति, धनप्राप्तिकरं तवाश्रयं गृह्णीयां—यतस्त्वं यज्ञस्य स्थानमसीत्याह ।

अथ जुह्वानो ब्रूयात्—

"इतइन्द्रो वीर्यमकृणो दूर्ध्वोऽध्वर आस्थात्" ५ ॥ २ । ८ ।

एवमुक्तस्य यज्ञस्थानस्यासुरानाक्रान्त त्वादेतस्मादेव देवयजनस्थानादुद्युक्तः सन्निन्द्रः शत्रुवधरूपं वीर्य्यमकरोत्, अतएव यज्ञ उन्नतः स्थित इत्याह । यदीन्द्रो वीर्य्यं नाकरिष्यत्तदा शत्रुकृतविघ्नातिशयादध्वरो नौन्नत्यमगनिष्यदिति हि पश्यति ॥ ५ । ३६ ॥

तस्मात्—

"अग्ने वेर्होत्रं, वेर्दूत्यम्। अवतां त्वां
द्यावापृथिवी, अव त्वं द्यावापृथिवी ।
स्विष्टकृद् देवेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा
भूत् स्वाहा" १ ॥ २ । ६ ॥

हे अग्ने ! त्वं होतुः कर्म विद्धि—दूतकर्म च विद्धि ।

"उभयं वा एतदग्निर्देवानां होता च दूतश्च" इति श्रूयते (श० १ । ४ । ५ । ४)

हे अग्ने ! त्वां द्यावापृथिवी पालयतां त्वञ्च द्यावापृथिवी पालय । इत्थमन्योन्यपालने सति, इन्द्रः अस्माभिर्दत्तेनाज्येन हविषा देवार्थं स्विष्टकृद्भवतु, इन्द्रं देवमुद्दिश्य चेदमाज्यं सुहुतमस्तु इत्याह ॥

अथ जुह्वा ध्रुवां समनक्ति—

"सं ज्योतिषा ज्योतिः" २ ॥ २ । ६ ॥

गच्छतामित्यध्याहारः । ध्रुवास्थिताज्यरूपेण ज्योतिषा सह जुह्वा सिच्यमानं ज्योतिः संगच्छतामित्याह ॥ २ ॥ ४० ॥

अथ प्रधानयागानन्तरं पुरोडाशशेषप्राशनसमये होतरि आशिषं प्रयुञ्जानेसति यजमानो जपति—

"मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्वस्मान्—
रायो मघवानः सचन्ताम्, अस्माकं
सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वाशिषः" ॥ १ ॥ २ । १० ॥

परमेश्वरो मदपेक्षितं वीर्य्यं मयि यजमाने स्थापयतु । किञ्च धनवन्ति धनानि अस्मान् यजमानान् सेवन्ताम् । किञ्च, अस्माकं यजमानानामभीष्टार्थाशंसनानि भवन्तु । किञ्च अस्माकमिमाः पूर्वोक्ता आशिषोऽवितथा भवन्त्वित्याह ॥

अथ यदा होता द्यावापृथिव्योरुपह्वानं करोति तदोभयोः पुरोडाशयोरेकैकमंशं षडवत्ते षडवत्ते कृत्वाऽऽग्नीध्रे ददाति स च तत्प्राश्नाति तत्रेदं जपति

"उपहूता पृथिवी मातोपमां पृथिवी
माता ह्वयताम् । अग्निराग्नीध्रात्स्वाहा" २ ॥ २ । १० ॥

येयमुपहूता पृथिवी सा जगतो निर्मात्री । अतो मातृत्वेनास्माभिर्भाविता सती सा पृथिवी मामनुजानातु, येनाहमग्नीध्र कर्महेतोरग्निः सन् तं भागं प्राश्नामि । जाठरेऽग्नौ सुहुतमस्त्वित्याह ॥ २ ॥ ४१ ॥

द्वितीयं प्राश्नाति तत्रेदं जपति—

"उपहूतो द्यौष्पितोप मां द्यौः पिताह्वयता—
मग्निराग्नीध्रात् स्वाहा" १ ॥ २ । ११ ॥

अथेतः प्रभृति, ओं प्रतिष्ठेत्यन्तं ब्रह्मत्वम् ।

तत्र ब्रह्मा प्राशित्रं गृह्णाति—हे प्राशित्र !

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि" २ ॥ २ । ११ ॥

अथ दन्तैरनुपस्पृशन् प्राश्नाति—हे प्राशित्र !

"अग्नेष्ट्वास्येन प्राश्नामि" ३ ॥ २ । ११ ।

अग्नेर्देवस्य मुखेन त्वां भक्षयामीत्याह ॥ ३ ॥ ४२ ॥

अथ समिधमाधातुमनुज्ञाप्रदानाय बोधितो ब्रह्ममन्त्रेणानुजानीयात् । तत्र मन्त्रः ।

"एतं ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुर्बृहस्पतये ब्रह्मणे ।
तेन यज्ञमव, तेन यज्ञपतिं, तेन मामव १ ॥ २ । १२ ।
मनो जूतिर्जुषतामाज्यस्य, बृहस्पतिर्यज्ञमिमं तनोतु ।
अरिष्टं यज्ञं समिमं दधातु, विश्वेदेवास इह मादयन्ताम्" ओ३म्प्रतिष्ठ
२ ॥ २ । १३ ॥

हे सवितर्देव ! इदानीं क्रियमाणमिमं यज्ञं त्वदर्थं यजमानाःकथयन्ति । तथा देवानां यज्ञे त्वया प्रेरितो यो ब्रह्मा—तस्मै ब्रह्मणे बृहस्पतये च कथयन्ति । "बृहस्पतिर्वै देवानां ब्रह्मा" इति श्रुतेः । अतस्तवायं यज्ञ इति हेतो स्त्वमिमं यज्ञं रक्ष । यजमानं च रक्ष । मां ब्रह्माणञ्च रक्ष ॥४३॥ किं च हे सवितः ! अतीतानागतवर्तमानपदार्थेषु शीघ्रगमनशीलं त्वदीयं चित्तं यज्ञ संबन्धि घृतं सेवताम् । किं च बृहस्पति र्ब्रह्मत्वादिमं यज्ञं विस्तारयतु ततो हिंसारहितं कृत्वा इमं यज्ञं संदधातु । किं च सर्वे देवा इह यज्ञकर्मणि तृप्यन्ताम् । अथैवं प्रार्थितः सविता (ओं प्रतिष्ठ) 'तथास्तु–प्रयाणं कुरु' । इत्यनुज्ञां प्रयच्छतु इत्याह । समिदा धानकाले यजमानस्याभिप्रेतं प्रयाणमवगम्य सविताङ्गीकृत्य प्रयाणे प्रेरयति ॥२॥४४॥ कृतं ब्रह्मत्वम् । अतः परं प्राकृतमार्षम्—

अथ होताऽनुमन्त्रयते—

"एषा ते अग्ने समित्, तया वर्द्धस्व चा

चप्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमा च प्यासिषीमहि" १ ॥ २ । १४ ॥

हे अग्ने ! अयं तव समिन्धन हेतुः काष्ठविशेषः, तद्बलेन त्वं वृद्धिं गच्छ, अस्मानपि सर्वतो वृद्धिं प्रापय । तथा च सति त्वत्प्रसादाद्वयं वृद्धिं प्राप्नुयाम, अस्मदीयपुत्रपश्वादीनपि सर्वतो वृद्धान् करवामेत्याह ।

अतः परं यथापूर्व मिध्मसंनहनैरनुपरिधि त्रिस्त्रिः परिक्रम्याग्नेः संमार्गः कृतस्तथात्र परिक्रमणवर्ज मेकैकवारमेवाग्निं संमार्ष्टि—

"अग्ने वाजजिद् वाजं त्वा ससृवांसं

वाजाजितं सम्मार्ज्मि" २ ॥ २ । १४ ॥

हे अग्ने ! हे अन्नजित् ! अन्नमुद्दिश्य गतवन्तमन्नं संपादितवन्तं त्वामहं शोधयामीत्याह ॥ २ ॥ ४५ ॥

अथ यजमानो जुहूपभृतौ व्यूहति । परस्पर विपरीतत्वेनापनोदनं व्यूहनम् । तत्र जुहूं प्राचीं प्रेरयति—उपभृतं प्रतीचीं प्रेरयति क्रमेण—

"अग्नीषोमयो रुज्जितिमनूज्जेषं,

वाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामि । अग्नीषोमौ

तमपनुदतां, योऽस्मान् द्वेष्टि, यञ्च वयं

द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ।" १ ॥ २ । १५ ।

अग्नीषोमयो र्द्वितीयपुरोडाशदेवतयो रुत्कृष्टं जयमनुसृत्य अहमुज्जेषम् । उत्कृष्टं जयं प्राप्तवानस्मि । अन्नस्य पुरोडाशादेरभ्यनुज्ञया मां जुहूरूपधारिणं यजमानं प्रोत्साहयामीत्याह । अथ यः शत्रुरसुरादिरस्मदीय यज्ञविनाशाय द्वेषं करोति, यं चास्मदीयानुष्ठानविरोधिनं शत्रुमालस्यादिरूपं विनाशितुमुद्युञ्ज्मः, तमुभय विधमपि शत्रुमग्नीषोमौ देवौ निराकुरुताम् । किंच अहमप्येनं द्विविधं शत्रुमुपभृद्रूपं पुरोडाशदेवताया अभ्यनुज्ञया निराकरोमीत्याह ॥

अथ दर्शे अग्नीषोमयोः स्थाने इन्द्राग्नी वक्तव्यौ यथा—

"इन्द्राग्न्योरुज्जितिमनूज्जेषं, वाजस्य मा प्रसवेन

प्रोहामि । इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मिन् द्वेष्टि,

यञ्च वयं द्विष्मोवाजस्यैनं प्रसवेनामोहामि" २ ॥ २ । १५ ॥ ४६ ॥

अथ जुह्वा यथापूर्वं परिधीननक्ति—

"वसुभ्यस्त्वा, रुद्रेभ्यस्त्वा, आदित्येभ्यस्त्वा" १ ॥ २ । १६ ॥

हे मध्यमपरिधे! त्वां वसुदेवता प्रीत्यर्थमनज्मि । हे दक्षिणपरिधे! त्वां रुद्रदेवता प्रीत्यर्थमनज्मि । हे उत्तरपरिधे! त्वामादित्यदेवताप्रीत्यर्थमनज्मि इत्याह । परिधित्रयाञ्जनेन हि सवनत्रयदेवताः प्रीयन्ते ।

अथ प्रस्तरमादत्ते—

"संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रावरुणौ त्वा वृष्ट्याऽवताम्" २ ॥ २ । १६ ॥

हे द्यावापृथिवी! द्युलोकभूलोक देव्यौ! युवां गृह्यमाणं प्रस्तरं सम्यगवगच्छतम् । अथ हे प्रस्तर! त्वां प्राणापानवायू जलवर्षणेन रक्षताम् इत्याह । अनेन हि प्रस्तरेण यजमानोऽभिनीयते "यजमानो वै प्रस्तरः" इति श्रुतेः (१, ८, १, ४४) इति ।

वृष्ट्या च तस्य रक्षां करोतु प्राणापानात्मा वायुरित्याशंसति । "वायुर्वै वर्षस्येष्टे" इति श्रुतेः ॥ १ । ८ । ३ । १२ ॥

अथैनं प्रस्तरमनक्ति—तत्र जुह्वामग्रमुपभृति मध्यं ध्रुवायां मूलमञ्ज्यात्—

"व्यन्तु वयोऽक्तं रिहाणाः" ३ ॥ २ । १६ ॥

गायत्र्यादिच्छन्दोरूपाः पक्षिणो घृतलिप्तं प्रस्तरमास्वादयन्तो गच्छन्त्वित्याह ।

अथैकं तृणं प्रस्तरात्पृथक्कृत्य प्रस्तरं नीचैर्हृत्वाऽग्नौ प्रक्षिपेत् । हे प्रस्तर! त्वम्—

"मरुतां पृषतीर्गच्छ, वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं
गच्छ ततो नो वृष्टिमावह" ४ ॥ २ । १६ ॥

मरुन्नामकानां देवनां संबन्धिनी र्वाहनरूपाश्चित्रवर्णा अश्वाः प्राप्नुहि । (वायुवाहनवद्वेगेनान्तरिक्षं गच्छ) । ततः स्वल्पतनुः स्वाधीनगवी भूत्वा स्वर्गं गच्छ ततोऽस्मदर्थं भूलोके वृष्टिमानयेत्याह । अथवा "इयं वै वशापृश्निर्यदिदमस्यां मूलि चामूलं चान्नाद्यं प्रतिष्ठितं तेनेयं वशापृश्निः" इति श्रुतेः—(१ । ८ । ३ । १५) । वशापृश्निः पृथिवी । ततः पृथ्वीप्रधानो भूत्वा पृथ्वीसंबन्धिभागानाददानो नाम द्युलोकं तर्पयेत्याह ।

अथात्मानमालभते—

"चक्षुष्पा अग्नेऽसि, चक्षुर्मे पाहि" ५ ॥ २ । १६ ॥

हे अग्ने! यतस्त्वं ज्वालयान्धकारं निवर्त्य चक्षुः पालकोऽसि, अतो मम चक्षुः पालय—प्रस्तर प्रहरणप्रसक्तं चक्षुरुपद्रवं परिहरेत्याह ॥ ५ ॥ ४७ ॥

अथ परिधीननु प्रहरति। तत्रादौ मध्यमं प्रक्षिपेत्।

"यं परिधिं पर्यधत्था अग्ने देव पणिभिर्गुह्यमानः।

तं त एतमनु जोषं भराम्येष नेत् त्वदपचेतयातै॥" १॥२।१७॥

हे अग्ने! देव! अविहनीय! पणिभिरसुरैः संव्रियमाणः त्वं यं परिधिं पश्चिमदिशि असुरोपद्रवनिवारणाय स्थापितवानसि। तमेतं तव प्रियं परिधिमनुभरामि वह्नौ प्रक्षिपामि। यथा नैष परिधिः त्वत्सकाशादपगन्तुमीहेत, किन्तु त्वय्येव सदा तिष्ठेदित्याह। ततो दक्षिणोत्तरौ परिधी युगपदेवाग्नौ प्रक्षिपेत्। हे परिधी! युवाम्—

"अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतम्" २॥ २ । १७॥

अग्नेराहवनीयस्याभिप्रेतमन्नमपि गच्छतम्। अग्नेरन्नत्वं भवद्भ्यां प्राप्यतामित्याह॥२।४८॥

अथ संस्रवान् जुहुयात्। विलीनमाज्यं संस्रवः। तत्र जपेत्—

"संस्रवभागाः स्थेषा बृहन्त, प्रस्तरेष्ठाः परिधेयाश्च देवाः।

इमां वाचमभि विश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन्

वर्हिषि मादयध्वम् स्वाहा वाट्" १॥ २ । १८॥

हे विश्वेदेवाः! यूयं संस्रवभागाः स्थ—विलीनमाज्यं हि युष्माकं भागः। तथा इषा संस्रवलक्षणेनान्नेन महान्तः स्थ। किंच, ये प्रस्तरस्थायिनः ये च परिधिभवाः, ते विश्वेदेवाः इमां मदीयां वाचं सर्वत्र वर्णयन्तो यूयमस्मिन् यज्ञे वर्हिषि उपविश्य तृप्यध्वं मोदयध्वं वा। त्वदर्थं स्वाहा, त्वदर्थं वाट्। संस्रवा दीयन्त इत्याह॥ ४९॥

अतः परं जुहूपभृतौ शकटधुरि निदध्यात्। हे जुहूपभृतौ! युवाम्—

"घृताची स्थो धुर्य्यौ पातं, सुम्ने स्थः

सुम्ने मा धत्तम् १॥ २ । १९॥

घृतं प्राप्तवत्यौ स्थः, तथाविधे युवामनड्वाहो रक्षतम्। किंच युवां सुखरूपे स्थः, तस्मात् सुखे मां स्थापयतमित्याह।

अथ वेदिमालभते—

"यज्ञ नमश्च त उप च, यज्ञस्य शिवे संतिष्ठस्व,

स्विष्टे मे संतिष्ठस्व" २॥ २ । १९॥

हे यज्ञ! तुभ्यं नमोऽस्तु तुभ्यमुपचयो वृद्धिरस्तु। किंच यज्ञस्यास्य शिवे अङ्ग वैकल्या-

भावरूपे कल्याणे संस्थां कुरु। मम च साध्विष्टे शोभनेयागे संस्थां कुरु। यथा यं यज्ञः पूर्णतां गच्छेत्, यथा च मे स्विष्टं पूर्णतां गच्छेत्तथा कुर्वित्याह। अत्र श्रुतिः—"स यदतिरेचयति तन्नमस्कारेण शमयति, अथ यदूनं करोत्युप चेति, तेन तदन्यूनं भवति। यद्वै यज्ञस्यान्यूनातिरिक्तं-तच्छिवं, तेन तदुभयं शमयति" इति ॥ २ । ५० ॥

ततः स्रुक्स्रुवं प्रगृह्णाति—

"अग्नेऽदब्धायोऽशीतम ! पाहि मा दिद्योः, पाहि
प्रसित्यै, पाहि दुरिष्ट्यै, पाहि दुरद्मन्या, अविषं नः
पितुं कृणु, सुखदा योनौ, स्वाहा वाट्" १ ॥ २ । २० ॥

हे अनुपहिंसितमनुष्य ! हे भीक्तृनम ! यद्वा हे व्यापकतम ! हे अग्ने गार्हपत्य ! वज्रात् शत्रुप्रयुक्तान्मां रक्ष। बन्धनहेतुभूताज्जालान्मां रक्ष। अशास्त्रीययागान्मां रक्ष। दुष्ट भोजनान्मां रक्ष। किंच अस्माकमन्नं विषहीनं कुरु। सम्यगवस्थान योग्ये च गृहे मां स्थापय। अथवा तादृशेऽस्माकं गृहे अन्नमविषं कुरु। त्वदर्थं स्वाहा, त्वदर्थं वाट् इत्याह।

अथ दक्षिणाग्नौ जुहोति—

"अग्नये संवेशपतये स्वाहा, सरस्वत्यै
यशोभागिन्यै स्वाहा" २ ॥ २ । २० ॥

स्त्रीपुंसयोरभिलापपूर्वकमेकत्र शयनं संवेशः। तदधिष्ठात्रे अग्नये हविर्दीयते। जीवतः पुरुषस्य प्रशंसा यशः। तद् भगिन्यै वाग्रूपायै सरस्वतीदेव्यै हविर्दीयते इत्याह ॥ २ । ५१ ॥

अतः परं पत्नी वेदं प्रमुञ्चति—हे कुशमुष्टिनिर्मित पदार्थ ! त्वम्—

"वेदोऽसि, येन त्वं, देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभव स्तेन
मह्यं वेदो भूयाः" १ ॥ २ । २१ ॥

ऋगाद्यात्मकोऽसि। यद्वा ज्ञातासि। हे द्योतनात्मक ! हे वेद ! येन कारणेन त्वं देवानां ज्ञापकोऽभूः, तेन कारणेन मम ज्ञापको भवेत्याह ॥

अथ समिष्टयजुर्जुहोति। तत्र पूर्वं देवान् विसृज्य पश्चाच्चन्द्रमीश्वरं वा प्रत्युच्यते।

"देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित।
मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा, वाते धाः" ३ ॥ २ । २१ ॥

हे यज्ञवेत्तारो देवाः ! अस्मदीयं यज्ञं प्रवृत्तं ज्ञात्वा यज्ञं प्रत्यागच्छत। यद्वा अस्मदीय–

यज्ञेन तुष्टाः सन्तो गातुं गन्तव्यं स्वमार्गं गच्छतेत्याह। अथ हे मनोधिष्ठातृदेव चन्द्र ! यद्वा हे मनसः प्रवर्त्तक परमेश्वर ! हे देव ! इममनुष्ठितं यज्ञं त्वद्धस्ते ददामि। त्वं च तं यज्ञं वायुरूपे देवे स्थापय, इत्याह ॥ वाते हि यज्ञोऽवतिष्ठते—"वायुरेवाग्निस्तस्माद् यदैवाध्वर्युरुत्तमं कर्म करोत्यथैतमेवाप्येति" इति श्रुतेः ॥ ३ ॥ ५२ ॥

अथ बर्हिर्जुहोति—

"सं बर्हि रङ्क्ता हविषा घृतेन, समादित्यै र्वसुभिः
सं मरुद्भिः। समिन्द्रो विश्वदेवेभिरङ्क्ता, दिव्यं
नभो गच्छतु यत् स्वाहा" १ ॥ २ । २२ ॥

इन्द्रः हविः संस्कारयुक्तेन घृतेन दर्भं समङ्क्ताम्—सम्यगञ्जनोपेतं करोतु। स च न केवलः–किंतु–आदित्यैः समङ्क्ताम्। वसुभिः समङ्क्ताम्। मरुद्भिः समङ्क्ताम्। विश्वदेव-नामकैर्गणदेवैः समङ्क्ताम्। तद्बर्हिः, यद्दिव्यं नभः आदित्यलक्षणं ज्योतिः तद्गच्छतु आदित्यं प्राप्नोतु। इदं बर्हिः देवोद्देशेन दीयते इत्याह ॥ १ ॥ ५३ ॥

अथ पूर्वं "कस्त्वा युनक्ति सत्त्वा युनक्ति इत्यादिना प्रणीतानां यासामपां यज्ञयोगः कृतः, तासामिदानीं यज्ञविमोकः कार्यः—"यो वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो वै स भवतीति" श्रुत्यन्तरोक्ते—तस्माद्वेद्यां प्रणीताः परीत्य निनयति प्रश्नोत्तरप्रकारेण प्रणीत-नामपांधारक हे पात्र !

"कस्त्वा विमुंचति, स त्वा विमुञ्चति, कस्मै त्वा विमुञ्चति,
तस्मै त्वा विमुञ्चति पोषाय" १ ॥ २ । २३ ॥

नाहं निनयामि–अपितु यः पूर्वं त्वामयुनक् स प्रजापतिरेवेदानीमपि यजमानं पुत्रादिभिः पोषयितुं त्वां निनयतीत्याह।

अथ पुरोडाशकपालेनाधः कृष्णाजिनं पतितान्कणानपास्यति हे कणसमूह ! त्वम्—

"रक्षसां भागोऽसि" २ ॥ २ ॥ २३ ॥ २ ॥ ५४ ॥

२०–इतः परं याजमानम्

तत्र पूर्णपात्रं निनयति परीत्य सन्नतं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिगृह्णाति—

"सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वोपद्र विलिष्टम्" १ ॥ २ । २४ ॥

वयं वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन समगन्महि सङ्गता भवामः। क्षीरादिरसेन समगन्महि। शरीरावयवैरनुष्ठानक्षमैः समगन्महि। शान्तेन कर्मश्रद्धायुक्तेन वा मनसा समगन्महि। किंच सुदानस्त्वष्टा देवो धनानि करोतु। तथा शरीरस्य मदीयस्य यद्विशेषेण न्यूनमङ्गं तदनुमार्ष्टु। न्यूनत्वं परिहृत्यानुकूलं कृत्वा शोधयत्वित्याह। (अनेन मुखं विमृष्ट इति) ॥ ५५ ॥

अतः परं विष्णुक्रमान् क्रमते। विष्णुपादबुद्ध्या भूमौ स्वपादविक्षेपा विष्णुक्रमाः—

"दिवि विष्णुर्व्यक्रंस्त, जागतेन छन्दसा,
ततो निर्भक्तौयोऽस्मान्द्वेष्टि, यंच वयं द्विष्मः" ॥
अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रंस्त, त्रिष्टुभेन छन्दसा,
ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः ॥
पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रंस्त, गायत्रेण छन्दसा,
ततो निर्भक्तो योऽस्मान्द्वेष्टि यंच वयं द्विष्मः १ ॥ २ । २५ ॥

विष्णुर्यज्ञपुरुषः जगतीच्छन्दोरूपेण स्वकीयपादेन द्युलोके विक्रममकार्षीत्। तेन योऽस्मान् दृष्ट्वा न प्रीयते यंच दृष्ट्वा वयं न प्रीयामहे स द्विविधोऽपि शत्रुर्दिवो निस्सारितः। एवं त्रिष्टुप् छन्दोरूपेण पादेनान्तरिक्षे विक्रम्य ततः शत्रुर्निस्सारितः। तथा गायत्रीछन्दोरूपेण पादेन पृथिव्यां विक्रम्य ततोऽपि शत्रुर्निस्सारित इत्याह।

अथ भागमवेक्षते—

"अस्मादन्नात्" २ ॥ २ । २५ ॥

अस्माद् यजमानभागादपि स द्विविधोऽपि शत्रुर्निर्भक्त इत्याह।

अथ भूमिमवेक्षते—

"अस्यै प्रतिष्ठायै" ३ ॥ २ । २५ ॥

अस्याः पुरतो दृश्यमानायाः प्रतिष्ठाहेतोर्यज्ञियभूमेरप्यसौ द्विविधः शत्रुर्निर्भक्त इत्याह।

अथ प्रागवेक्षते—

"आगन्म स्व" ४ ॥ २ । २५ ॥

पूर्वस्यां दिशि स्थितं स्वर्गं सूर्यं वा यज्ञानुष्ठानेन वयं प्राप्ताः स्मः इत्याह।

अथाहवनीयमवेक्षते—

"सं ज्योतिषाऽभूम" ५ ॥ २ । २५ ॥

आहवनीयलक्षणेन ज्योतिषा वयं समभूम संगता अभूमेत्याह ॥ ५६ ॥

अथ सूर्य्यमवेक्षते––हे सूर्य ! त्वम्—

"स्वयंभूरसि श्रेष्ठो रश्मि र्वर्चोदा असि वर्चो मे देहि" १॥ २ । २६ । ।

अकृतकः स्वयंसिद्धोऽसि । मण्डलशरीराभिमानी हिरण्यगर्भाख्यः प्रशस्यतमो रश्मिरसि । सन्ति हि सूर्य्यस्य सप्तरश्मयः । चतुर्दिक्षु चत्वारः । उपर्य्येकोऽधस्तादेकः । सप्तमो मण्डलाभिमानी हिरण्यगर्भः पुरुषः । स श्रेष्ठः, स त्वमसि । यतस्त्वं तेजसो दातासि अतो मे ब्रह्मवर्चसं देहीत्याह ।

अथ प्रदक्षिणमावर्तते––

"सूर्य्यस्यावृतमन्वावर्तें" २ ॥ २ । २६ ॥

सूर्यस्यावर्तनमनुसृत्य अहमपि प्रादक्षिण्येनावर्तनं करोमीत्याह ॥ २ । ५७ ॥

अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते––

"अग्ने गृहपते–सुगृहपतिस्त्वयाऽग्नेऽहं गृहपतिना भूयासम् ।
सुगृहपतिस्त्वं मयाऽग्ने गृहपतिना भूयाः ।
अस्थूरिणौ गार्हपत्यानि सन्तु शतं हिमाः" १ ॥ २ । २७ ॥

हे अस्मद्गृहपालक ! हे अग्ने ! गृहपालकेन त्वया कृत्वा अहं सुगृहपतिर्भवेयम् । तथा हे अग्ने ! त्वमपि मया गृहपतिना सता सुगृहपतिर्भव । एवं सति नौ आवयोर्गार्हपत्यानि गृहपतिनिष्पाद्यकर्माणि शतवर्षपर्यन्तमस्थूरि सन्तु—निरन्तरमव्यवहितानि प्रवर्त्तन्तामित्याह । एकपार्श्वे वलीवर्द्दयुक्तं शकटं स्थूरि । अथ यदुभयतो वलीवर्द्दयुक्तं तदस्थूरि । अस्थूरि हि शकटमव्यवहितं प्रसरति । तथाऽग्नियजमानाभ्यां गार्हपत्यम् ।

अथ पुनः प्रदक्षिणमावर्तते—

"सूर्यस्यावृतमन्वावर्तें" २ ॥ २ । २७ ॥

सूर्यावर्त्तनानुसारेणाहमपि प्रदक्षिणमावर्त्तयामीत्याह ॥ २ । ५८ ॥

अथैवं गृहीतं व्रतमिदानीं विसृजते—तत्र यदि अग्ने व्रतपते व्रतं ग्रहीष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम् इत्येवं प्रतिज्ञाय व्रतमुपागात् तदाखल्वेवं विसृजेत् ।

"अग्ने व्रतपते, व्रतमचारिषं तदशकं
तन्मेऽराधि" १ ॥ २ । २८ ॥

हे अग्ने ! हे कर्मपालक! कर्मानुष्ठितवानस्मि। त्वत्प्रसादात् तत्कर्मकरणशक्तोऽहमभवम्। त्वया च तन्मदीयं कर्म साधितमित्याह।

अथ यदि "इदमहमनृतात् सत्यमुपैमीत्येवं प्रतिज्ञाय व्रतमुपागात् तदा त्वेवं विसृजेत्।"

"इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि" २॥ २। २८॥

हे अग्ने ! इदं कर्म समाप्य योऽहं कर्म्मणः पुरा अस्मि स एव मनुष्योऽस्मीत्याह। पूर्वं हि व्रतग्रहणकाले सत्यप्रधानं दैवं भावं गृहीतवानासीत्। तदिदानीं विसृज्य पुनः स्वभावं प्रतिपद्यते तत्रेत्थमेव ब्रूयात् नतु सत्यादनृतमुपैमीति॥ २। ५। ६॥

॥ इति दर्शपौर्णमासमन्त्राधिकारः प्रथमः ॥ १॥

अत्र मन्त्रा—ऊनषष्टि (५६)

❀

॥ अथ पिण्डपितृयज्ञः

अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञ माहिताग्नि र्निदध्यादनाहिताग्निरपि वा दक्षिणाग्नेः पुरस्ताच्छूर्पं स्थालीं स्फ्य पात्रीमुलूखले चेति पात्राणि संसादयेत्। ततो गार्हपत्याग्नेः पश्चाद्-भागे दक्षिणाग्रेषु कुशेषु स्फ्यं प्राश्चं निदध्यात्। तस्यैव च स्फ्यस्य पुरस्ताद्दक्षिणामुखे शूर्पे स्थालीं निदध्यात्।

सव्यं जानुभूमौ निपत्याधोमुखेन मुष्टिना व्रीहीन् सकृद् गृहीत्वा पितॄन् ध्यायन् शूर्पस्थायां स्थाल्यां निदधाति। तथा गृह्णीयाद् यथा स चरुः स्थालीविलादध एव च मन्दः स्वित्रःसंपद्येत।

पत्न्या सकृत् कण्डितांस्तण्डुलान् दक्षिणाग्नौ श्रपयित्वा तं चरुम संस्कृतेन घृतेनाभि-धार्य्य तं चरुं प्रतीच्यां दिश्युद्वासयेत्।

गृह्योक्तेन विधिना चाप्रदक्षिणं परिसमुह्य दक्षिणाग्निमनियताग्रै र्दर्भैः परिस्तीर्य्य, सर्वतः पर्य्युक्ष्य, दक्षिणं जानुभूमौ पातयित्वा यज्ञोपवीती प्राङ्मुख आसीनः प्रादेशमात्रेण प्राङ्मुखेन यज्ञियेन दर्व्याकारेण मेक्षणेन प्रतिमन्त्रमंगुष्ठपर्वमात्रमवदाय तिस्रो वक्ष्यमाणा आहुती र्जुहोति।

(१) अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा॥ १। २। २९॥

(२) सोमाय पितृमते स्वाहा॥ २। २। २९॥

(३) यमायाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा॥ ३। २। २९॥

(४) अपहता असुरा रक्षांसिवेदिषदः॥ ४। २। २९॥

होमान्ते मेक्षणमग्नावभ्यादधाति तत् स्विष्टकृद्भाजनम्। ततो दक्षिणाग्ने र्दक्षिणस्यां दिशी—"अपहता असुरा रक्षांसिवेदिषदः" इति मन्त्रं पठन् स्फ्येन सकृदुन्मृज्यात्। तदुन्मृष्ट मुदकेनोपसिञ्चेत्। ततः—

"ये रूपाणि प्रतिमुञ्चमानाः असुराः सन्तः स्वधया चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टाँल्लोकात् प्रणुदात्यस्मात्॥ १। २। ३०॥

इति मन्त्रं पठन् दक्षिणाग्न्युल्मुकं साग्निकमुन्मृष्टस्य तस्य दक्षिणाग्नेर्निदध्यात्।

ततस्तस्मिन्नुन्मृष्टे छिन्नमूलकुशान्निदध्यात्। ततः आमन्त्रितं पितॄनामोचार्य्य-"अत्रावने-निक्ष्व, ये चात्र त्वानु; यांश्च त्वमनु" इति पठन् कुशेष्वाधारेषु पितृतीर्थेनापो निषिंचेत्।

अथैतस्मादवनेजनप्रदेशाद्दक्षिणतः पितामह नाम्ना मन्त्रं पठन् प्रागवदवने जपेत् तस्माद्दक्षिणतः पुनः प्रपितामहस्यावनेजनं कुर्यात् ।

ततोऽवनेजनवदेवामन्त्रितं पितृनामोच्चार्य्य—"एतत्ते ये चात्र त्वानु, यांश्च त्वमनु"—इति पठन् क्रमेण त्रीन् पिण्डान् तत्र तत्रावनेजनस्थाने निदध्यात् ।

ततः "अत्र पितरो मादयध्वं यथा भागं पितर आवृषायध्वम्" ॥१।२।३१॥

इति मन्त्रं जपेत् ।

ततोऽयमासीन एव पर्य्यावृत्तोदङ्मुखो भवेत् । एवमुच्छ्वासाभिकाङ्क्षा पर्य्यन्तं मुहूर्तमेववात्रिरासित्वा ततः पिण्डाभिमुखो भूत्वा मन्त्रमिमं जपेत्—

"अमीमदन्त पितरो यथाभागमवीवृषत्" इति ॥ २ । २ । ३१ ॥

ततः प्राग्वदेव पुनरवनेज्यपिण्डेषु पितॄन् ध्यायन् पितृभ्यो नमस्कुर्या देभिर्मन्त्रैः—

"नमो वः पितरो जीवाय । नमो वः पितरः शोषाय ।
नमो वः पितरो घोराय । नमो वः पितरो रसाय ।
नमो वः पितरो बलाय । नमो वः पितरो मृत्यवे ।
नमो वः पितरो मन्यवे । नमो वः पितरः स्वधायै ।
नमो वः पितरः, पितरो नमो वा ।
येऽत्र पितरः पितरः स्थ यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्व ।
य इह पितरो मनुष्या वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ।
या अत्र पितरः स्वधा—युष्माकं सा ।
य इह पितरः एधतु रस्माकं सः ।
गृहान् नः पितरोदत्त इति" ।

एवमेभिर्मन्त्रैर्नमस्कृत्य त्रयाणामपि तेषां पिण्डानामुपरि "एतद्वः पितरो वासोवध्वं पितरः" इति मन्त्रं पठन्नेकं सूत्रमुपन्यस्येत् । तथा द्वितीयं, यथा तृतीयम् ।

ततोऽवनेजनोदकशेषं पिण्ड सन्निधौ निनयेदनेनमन्त्रेण—

"ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्नुतम् ।
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्" । इति ॥ १ । २ । ३२ ॥

ततः पिण्डान् यथान्युप्तानवघ्राय, निर्वापप्रदेशादुत्थाप्य पात्रेऽवधाय प्राश्नीयात् । अथवा तान् पिण्डान् ब्राह्मणाय दद्यात्, अप्सु वा पिण्डान् क्षिपेत् । पुत्रकामा तु पत्नी मध्यमं पिण्ड-मश्नीयादनेन मंत्रेण ।

"आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्रजम् ।
यथेह पुरुषोऽसत्" इति ॥ १ । २ । ३३ ॥

स पिण्डानवघ्रायानन्तर मुल्मुकं दक्षिणाग्रो कुर्यात् । छिन्नमूलांश्च कुशान् दक्षिणाग्नौ क्षिपेत् । माध्यन्दिनीयास्तु--छिन्नमूलानग्नावभ्याधाय तत उल्मुकं विसृजेयुः ।

अथैतस्याममावास्यायां यवाग्वैव सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात् । माध्यन्दिनमतेतु संनयन एवायं होमद्रव्य नियमो नान्यस्येति दिक् । सोऽयं पिण्डपितृयज्ञो विनापि दर्शाङ्गतयाऽवश्यं कर्त्तव्यः ।

॥ इति पिण्डपितृयज्ञाधिकारः ॥

॥ अग्निहोत्राधिकारः ॥

तत्र

। अथ अग्न्याधानम् ।



अमावास्यायामग्न्याधेयं क्रियते—

तत्र चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्वास्य तस्यौदनस्य मध्ये घृतसेचनाय निम्नं स्थानं कृत्वा सर्पिषा तदापूर्य्य तस्मिन् सर्पिषि आश्वत्थीः तिस्रः समिधोऽभ्यज्य शमीगर्भमेतदाप्नुम। इति वदन्त एकैकामेकैकयर्चा अग्नावभ्यादधति। तत्र ब्रूते। हे ऋत्विजः! यूयम्—

"समिधाऽग्निं दुवस्यत, घृतैर्बोधयतातिथिम्।
आस्मिन् हव्या जुहोतन" ॥ १ ॥ ३ । १ ॥

काष्ठद्वारा तावदग्निं परिचरत। ततो होष्यमाणैः पूर्णाहुतिसम्बन्धिभिर्घृतैरातिथ्यकर्मणार्हणीयमेनं प्रज्वालयत। प्रज्वालिते च तस्मिन्नग्नौ नानाविधानि हवींषि आजुहुत इत्याह ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः! यूयम्—

"सुसमिद्धाय शोचिषे, घृतं तीव्रं जुहोतन।
अग्नये जातवेदसे" ॥ २ ॥ ३ । २ ॥

सम्यक्प्रज्वलिताय शोचिष्मते जातप्रज्ञानाय अग्नये ग्रहणोद्वासनाधिश्रयणावेक्षणादिभिः संस्कृतं घृतं जुहुतेत्याह ॥ २ ॥ अग्निं प्रत्याह—

"तं त्वा समिद्भिरङ्गिरो, घृतेन वर्द्धयामसि।
बृहच्छोचा यविष्ठ्य" ॥ ३ ॥ ३ । ३ ॥

हे अङ्गिरः! निर्दिष्टगुणवन्तं त्वां यज्ञसम्बन्धिकाष्ठैः संस्कृतेनाज्येन च प्रवृद्धं कुर्म्मः। हे युवतम अग्नेः! स त्वमधिकं शोचा=दीप्यस्वेत्याह ॥ "अङ्गिरा उ ह्यग्निः" इति श्रुतिः (१।४।१।२५) ॥ ३ ॥

अथाग्निमीक्षमाणः केवलं जपति—

"उप त्वाग्ने हविष्मतीर्घृताचीर्यन्तु हर्य्यत ।
जुषस्व सीमधो मम" ॥ ४ ॥ ३ । ४ ॥

हे अग्नेः ! हविर्युक्ता घृताक्ता एताः समिधः त्वामप्रत्युपगच्छन्तु । हे हर्य्यत ! इच्छुक ! अग्ने ! त्वं ताः समिधः स्वीकुरु इत्याह । ४ ।

अथ आपो हिरण्यमूषाखूत्करः शर्करा इति पंच संभारान् सम्पाद्य स्फ्येनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तानवस्थाप्य तेषु शुष्ककाष्ठैर्ज्वलंतमग्निं भूर्भुवः स्वरिति पंचाक्षराण्युच्चारयन्नादध्यात्, तदिदमाहवनीयाधानम्—

"भूर्भुवः स्वः—द्यौरिव भूम्ना, पृथिवीव वरिम्णा ।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे" ॥ ५ ॥ ३ । ५ ॥

भूर्भुवः स्वरित्येतास्तिस्रो व्याहृतयः पृथिव्यादिलोकत्रयनामानि । आभिः स्थापयन् लोकत्रयमनेन स्मरति । इध्मपूर्वार्द्धं गृहीत्वा ब्रूते । देवा इज्यन्ते यस्यां तथा विधे हे पृथिवि । तस्या देवयजनयोग्यायास्तवोपरि अन्नादं हुतभोक्तारं गार्हपत्यादिरूपमग्निं स्थापयामि भोक्तुं योग्याय अन्नाय अन्नभक्षणाय वा ॥ यो ह्यग्निर्भूम्ना द्यौरिव वर्तते यथा द्यौर्नक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथा ज्वालाबहुत्वेन युक्तः । यश्च वरिम्णा पृथिवीव स्थितः, यथा पृथिवी सर्वप्राण्याश्रयत्वरूपश्रेष्ठत्वोपेता तथा सर्ववस्तुशोधकत्वरूपश्रेष्ठत्वोपेतः । तादृशमग्निं स्थापयामीत्याह ॥ अथ सर्पराज्ञी कद्रूः पृथिव्यभिमानिनी । तया दृष्टं तृचं सार्पराज्ञी तयाहवनीयमुपतिष्ठते । ततो दक्षिणाग्निमादधाति—

"आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः, पितरं च प्रयन्त्स्वः" ॥१॥३।६॥
"अन्तश्चरति रोचनाऽस्य प्राणादपानती, व्यख्यन् महिषो दिवम्" ॥२॥३।७॥
"त्रिंशद्धाम विराजति वाक् पतङ्गाय धीयते, प्रतिवस्तोरहद्युभिः" ॥३॥३।८॥

यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता लोहितशुक्लादिबहुविधज्वालोपेतत्वाच् चित्रवर्णश्चायं दृश्यमानोऽग्निराहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निस्थानेषु सर्वतः पादविक्षेपं कृतवान् । तथाहि-प्राच्यां दिशि पृथिवीमाहवनीयरूपेण प्राप्तवान् आदित्यरूपेण च स्वर्गे सञ्चरन् द्युलोकमपि प्राप्तवान् इत्याह । "द्यौः पिता पृथिवी माता"—इति च श्रूयते बहुधा ॥१॥ एवमादित्यरूपेणाग्निं

स्तुत्वा वायुरूपेण स्तौति । अस्याग्नेः रोचना काचिच्छक्तिर्वाग्याख्या द्यावापृथिव्योर्म्मध्येचरति । सा च सर्वशरीरेषु प्राणव्यापारादनन्तरमपानव्यापारं कुर्वती सति हि जठराग्नौ जीवनहेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सद्भावात् प्राणापानौ प्रवर्तेते तस्मादग्निः प्राणापानरूपः । सोऽयमेव महानग्निः वाय्वादित्याभ्यां स्वशक्तिभूताभ्यामिदं जगदनुगृह्य अनुष्ठातृभ्यो भोगस्थानं द्युलोकं विशेषेण प्रकाशितवान् प्रकाशयति चेत्याह । "अन्तरिक्षेऽयं तिर्य्यङ् वायुः पवते"—इति श्रुतिः । "अग्निर्वै महिषः स इदं जातो महान्"—इति श्रुतिः । अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ता धामानि भवन्ति । तेषु या वाक् विराजति सा अग्न्यर्थमुच्चार्यते । किंच प्रत्यहं या वाक् या च द्युभिः यागपारायणाद्युत्सवभूतैरहोभिः स्तुतिलक्षणा वाक् सा सर्वाप्यग्न्यर्थमेव नान्यस्यै देवतायै इत्याह । पतन् गच्छति पतङ्गः । यतो ह्यरण्योः पतन् गार्हपत्यभावं गच्छति, ततः पतन्नाहवनीयता मित्यतोऽग्निः पतङ्गः । अहेति निपातो विनिग्रहार्थः ॥ ३ ॥ ८ ॥

॥ इत्यग्न्याधेयमन्त्रा अष्टौ व्याख्याताः ॥

॥ इत्याग्न्याधानम् ॥

॥ अथाग्निहोत्रहोममन्त्राः ॥

तत्र—प्रदीप्तां समिधमभिलक्ष्य—

"अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहा" इति सायं जुहुयात् ॥१।३।६॥

"सूर्य्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा" इति प्रातर्जुहुयात् ॥२।३।६॥

यस्तु ब्रह्मवर्चसकामः सः—

"अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा" इति सायं जुहुयात् ॥३।३।६॥

"सूर्यो वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा" इति प्रातर्जुहुयात् ॥४।३।६॥

"ज्योतिः सूर्य्यः सूर्य्योज्योतिः स्वाहा" इति वा प्रातर्जुहुयात् ॥५।३।६॥

योऽयमग्निर्देवः, स एव दृश्यमानज्योतिः स्वरूपं । यच्चेदं दृश्यमानं ज्योतिः तदेवाग्निर्देवः । तस्मै ज्योतीरूपायाग्नये हविः प्रदीयते । इत्याद्याह । "अग्निमादित्यः सायं प्रविशति, तस्मादग्निर्दूरान्नक्तं ददृशे । उभे हि तेजसी सम्पद्येते, उद्यन्तं वादित्यमग्निरनु समारोहति तस्माद्धूम एवाग्नेर्दिवा ददृशे" इति तैत्तिरीयश्रुतिः ॥ १ ॥

अथवा—

सजूर्देवेन सवित्रा, सजूरात्र्येन्द्रवत्या ।
जुषाणो अग्निर्वेतु स्वाहा" इति सायं जुहुयात् ॥ १ । ३ । १० ॥
सजूर्देवेन सवित्रा, सजूरुषसेन्द्रवत्या
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहा" इति प्रातर्जुहुयात् ॥ २ । ३ । १० ॥

सवित्रा देवेन प्रेरकेण परमेश्वरेण समानप्रीतिः, तथा इन्द्रदेवोपेतया रात्रिदेवतया समानप्रीतिरग्निरस्मासु प्रीतियुक्तः सन् आहुतिं भक्षयतु तस्मै हविर्दीयते । यथायमग्निः सायं तथा सूर्य्यः प्रातर्हविर्भक्षयत्वित्याह ॥ २ ॥

॥ इति होममन्त्राः ॥

॥ अथोपस्थान मन्त्राः ॥

तत्र तावद्-बृहदुपस्थानं देवदृष्टम् ।

सायमाहुत्यां हुतायां यजमान उत्थाय आहवनीयगार्हपत्यावग्नी उपतिष्ठते । तत्र तावदाहवनीयोपस्थानमन्त्राः—

उपप्रयन्तो अध्वरं, मन्त्रं वोचेमाग्नये,
आरे अस्मे च शृण्वते ॥ १ । ३ । ११ ॥

यज्ञमुपगच्छन्तो वयं तस्याग्नेरुद्देशेन मन्त्रं वोचेम-यो हि दूरे ऽस्मत्समीपे च शृणोतीत्याह ॥ १ ॥

अग्निर्मूर्द्धा दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या अयम् ।
अपां रेतांसि जिन्वति" ॥ २ । ३ । १२ ॥

द्युलोकस्योपरिवृत्त्या शिरःसमानः आदित्यरूपेण सर्वोपरि स्थित्या गोस्कन्धसमानः श्रेष्ठो वा दाहपाकप्रकाशैः पृथिवीस्थानां परिपालकोऽयमग्निः द्युलोकाद् वृष्टिरूपेण पतन्तीनामपां साराणि व्रीहियवादिरूपेण परिणतानि वर्द्धयति-यद्वा अपां कारणानि पुष्णाति आहुतिपरिणामेन वृष्टिं जनयति इत्याह ॥ २ ॥

उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या—उभा राधसः सह
मादयध्यै । उभा दाताराविषां रयीणां—उभा
वाजस्य सातये हुवे वाम् ॥ ३ । ३ । १३ ॥

हे इन्द्राग्नी! हे आहवनीय गार्हपत्यौ! युवामुभावपि आह्वातुमिच्छामि। तथा हविर्लक्षण-धनात् युवामुभावपि युगपन्मादयितुं हर्षयितुं वेच्छामि। यत उभौ युवामन्नानां धनानां च दातारौ स्थः अत उभौ युवामन्नस्य दानाय आह्वयामीत्याह ॥ ३ ॥ अथाग्नेयस्तिस्रः—

"अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः ।
तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्द्धया रयिम् ॥ ४ । ३ । १० ॥

हे आहवनीय! अयं गार्हपत्यस्तवोत्पत्तिस्थानमस्ति। यो हि सायं प्रातःकाले उत्पादन-योग्यत्वादिदानीं प्राप्त ऋतुकालः । यस्माच्च ऋतुकालोपेताहद्गार्हपत्यादुत्पन्नस्त्वं कर्म्मकाले दीप्तोऽभूः । हे अग्ने ! तं गार्हपत्यं जानन् पुनरुद्धरणाय कर्म्मान्ते प्रविश । अनन्तरमस्मदर्थं धनं वर्द्धय-यतः पुनर्यागं कुर्यामित्याह ॥ ४ ॥

अयमिह प्रथमो धायि धातृभिर्होता य-
जिष्ठो अध्वरेष्वीड्यः । यमप्नवानो भृगवो
विरुरुचु र्वनेषु चित्रं विभ्वं विशे विशे ॥ ५ ॥

अयमाहवनीयः इह कर्मानुष्ठाने मुख्य इति आधानकर्तृभिराहितोऽभूत्॥ यतो देवानामाह्वाता अतिशयेन यष्टा, सोमयागादिषु ऋत्विग्भिः स्तुत्यश्चायं भवति ॥ यञ्च विविधकर्मोपयोगित्वेना-श्चर्यकारिणं विभुत्वशक्तियुक्तमप्नवन्तो भृगुवंशोत्पन्ना मुनयः प्रत्येकयजमानार्थे ग्रामाद्बहि-र्यजनाख्यारण्यप्रदेशेषु दीपयन्ति स्म इत्याह॥ ५ ॥

अस्य प्रत्नामनु द्युतं शुक्रं दुदुह्रे अह्रयः ।
पयः सहस्रसामृषिम् ॥ ६ ॥

अस्यैवाग्नेः पुरातनीं दीप्तिमनुसृत्य लज्जारहिता दोग्धारः क्षीरदध्याज्यहविःप्रदानाद-नेकानेककर्म्मसमापिकामृषिं गां, शुद्धं पयो दुदुहिरे इत्याह ॥ यद्वा-मालिन्याभावेन निर्लज्जा विशुद्धा गावः, अस्यैवाग्नेश्चिरन्तनीमात्मानुषक्तां द्युतिं शुक्ररूपायन्नामनु पयो दुदुहिरे। यत्पयः सहस्रशः कर्माणि चातुर्मास्यांशुसोमादीनि सनोति अर्षति चेत्याह । अग्निना शुक्ररूपेण सिक्तं तेज एव गावो दुग्धरूपेण चरन्ति । सोऽयमर्थः स्पष्टीकृतोऽग्निहोत्रब्राह्मणे—

"तासु हाग्निरभिदध्यौ मिथुन्येऽनया स्यामिति—तां संबभूव—तस्यां रेतः प्रासिञ्चत्-तत्पयोऽभवत्" इति । तासु गोषु ॥ ६ ॥

अथ यजुर्मन्त्राः—

तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि ।
आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि । वर्चोदा
अग्नेऽसि वर्चो मे देहि । अग्ने यन्मे
तन्वा ऊनं, तन्मे आपृण ॥ ७ ॥

जठरे सत्यग्नौ अन्नानि जीर्य्यन्ते रसासृगादिरूपैः परिणमन्ते चेत्यग्नेः शरीरपालकत्वं सुप्रतिपन्नम् । यावत्कालश्च वपुष्यदराग्नेरौष्ण्यमुपलभ्यते तावन्न म्रियते इति मृत्युपरिहारेणाग्नेरायुर्दायकत्वं सुप्रतिपन्नम् । यद्दर्शनादेवायं ब्राह्मणस्तपसाग्निरिव ज्वलतीति बुद्धि र्भवति । तदिदं वैदिकानुष्ठानप्रयुक्तं तेजो वर्चः । तच्च वैदिकानुष्ठानमग्निसाध्यमित्यग्नेरेव वर्चोदायकत्वं सुप्रतिपन्नम् । अतएवैतान्यग्नेरिच्छति । हे अग्ने शरीरं पाहि आयुर्देहि वर्चो देहीति । किञ्च हे अग्ने ! मम शरीरस्य यदेवाङ्गं चक्षुरादिकं दृष्टिपाटवादिरहितं तत्सर्वं सर्वतः पूरयेत्याह ॥ ७ ॥

इन्धानास्त्वा शतं हिमा, द्युमन्तं समिधीमहि ।
वयस्वन्तो, वयस्कृतं, सहस्वन्तः सहस्कृतं,
अग्ने सपत्नदम्भनमदब्धासो अदाभ्यम् ।
चित्रावसो स्वस्ति ते पारमशीय ॥ ८ ॥

हे अग्ने ! त्वदनुग्रहेण दीप्यमाना वयं । दीप्तिमन्तं त्वाम् अन्नवन्तो वयमन्नप्रदातारं त्वां—बलवन्तो वयं बलप्रदातारं त्वां—तथा अनुपहिंसिता वयमनुपहिंसनीयं शत्रूणामुपहिंसितारं च त्वां शतवर्षपर्यन्तं प्रज्वालयामः । हे चित्रावसो ! हे रात्रे ! निरुपद्रवं यता स्यात्तथा तवान्तं प्राप्नुयामेत्याह । चौरादिवदत्र देवयजने रक्षसां प्रवृत्ति विनिवृत्तये—"अग्निप्रतापेनेयं रात्रिः सुखेन मे समाप्नोतु" इत्याशंसति । "रात्रिर्वै चित्रावसु सा हीयं संगृह्येव चित्राणि वसति" इति श्रुति (२।३।४।२२)। वसन्ति हि रात्रौ विविधानि चन्द्रनक्षत्रान्धकाररूपाणीति चित्रावसुः सा भवति ॥ ८ ॥ एतावत्पर्य्यन्तमुत्थित एवोपतिष्ठेत् । अतः परमुपविश्योपतिष्ठेत् ।

सं त्वमग्ने सूर्य्यस्य वर्चसाऽगथाः
समृषीणां स्तुतेन। सं प्रियेण धाम्ना।
समहमायुषा, सं वर्चसा, सं प्रजया
सं रायस्पोषेण ग्मिषीय ॥ ९ ॥

हे अग्ने! त्वमिदानीं रात्रौ सूर्य्यस्य तेजसा समगथाः—सङ्गतोऽसि। बहव एवोपस्थानादि मन्त्रा अग्निं स्तुवन्तीति तेषां मन्त्राणां स्तोत्रेणापि त्वं संगतोऽसि। एवं प्रियाभिराहुतिभिश्चासि सङ्गतः। तदित्थं यथा त्वमेतैस्त्रिभिः सङ्गतः—एवमहमपि त्वत्प्रसादात् पूर्णायुषा विद्यैश्वर्य्यादि प्रयुक्ततेजसा पुत्रादिप्रजया धनसम्पत्त्या च सग्मिषीय—सङ्गतो भूयासमित्याह। "तद्यदस्तं यन्नादित्य आहवनीयं प्रविशति तेनैतदाह। तद्यदुपतिष्ठते तेनैतदाह। आहुतयो वा अस्य प्रियं धाम" ॥ इति श्रुतयः। (२। ३। ४। २४) ॥ ९ ॥

अतः परं यजुर्द्वयेन गां गच्छति ॥ हे गाव! यूयम्—

अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय—मह स्थ महो
वो भक्षीय ऊर्ज स्थोर्जं वो भक्षीय—
रायस्पोष स्थ रायस्पोषं वो भक्षीय ॥ १० ॥

क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वादुपचारेण अन्नरूपाः स्थ। अतो भवत्प्रसादादहं युष्मत् संबन्धि क्षीराज्यादिरूपमन्नं सेवेय[1]। तथा यूयं पूज्यरूपाः स्थ। अतः पूज्यानां युष्माकं प्रसादादहमपि पूज्यत्वं सेवेय। यद्वा—"यथा गौवैं प्रतिधुक् तस्यै शृतं तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु तस्या आतञ्चनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमीक्षा तस्यै वाजिनम्।" इति श्रुत्युक्तानि दशवीर्याणि महः—तद्रूपाः स्थ। अतो युष्माकं तद्वीर्यमहं सेवेय[2]। तथा गोक्षीरादेर्बलहेतुत्वादुपचारेण यूयं बलरूपाः स्थ। अतो युष्माकं प्रसादाद्बलं सेवेय। एवं क्षीराज्यादिविक्रयेण धनवर्द्धनादुपचारेण धनपुष्टिरूपाः स्थ। अतो युष्माकं प्रसादाद्धनपुष्टिमहं सेवेय इत्याह। प्रतिधुक् तत्कालयदुग्धम्। शृतमुष्णदुग्धं, शरो दुग्धमण्डः मस्तु दधिरसः। आतञ्चनं दधिपिण्डः। आमीक्षा स्फुटितंदुग्धं। वाजिनमामिक्षाजलम् ॥ १० ॥

रेवती रमध्वमास्मिन् योना, वास्मिन,
गोष्ठे, ऽस्मिँल्लोके ऽस्मिन् क्षये, इहैव स्त,
मा पगात ॥ ११ ॥

"पशवो वै रेवन्तः" इति श्रुतिः (२।३।४।२६)। हे रेवत्यः! हे धनवत्यो गावः! अत्र भविष्यति युष्माकमनेकः सञ्चारप्रदेशः। यदीच्छथ—अस्मिन् अग्निहोत्रहविर्दोहनस्थाने विहरत। अस्मिन् यजमानसंबंधि गोवाटे विहरत। यजमानदृष्टि विषये बहिः संचारप्रदेशे विहरत। रात्रो वा यजमानगृहे विहरत। तदेवं विहरणप्रदेशानुपलम्भप्रयुक्तावरोधक्लेशो युष्माकं न संभविष्यतीत्यतो यूयमिहैव यजमानसन्निधौ तिष्ठत, नान्यत्र गच्छतेत्याह ॥ ११ ॥

अथ गामालभमानो ब्रूते—

संहितासि विश्वरूप्यूर्जा माविश गौपत्येन ॥ १२ ॥

हे गौः! शुक्लकृष्णादि बहुरूपा त्वं क्षीराज्यादिहविर्दानाय यज्ञकर्मभिः संयुक्तासि सा त्वं क्षीराज्यादिरसेन गोस्वामित्वेन च मां सर्वतः प्रविश—त्वत्प्रसादान्मे बहुविधो रसो गोस्वामित्वं च सम्पद्यतामित्याह ॥ १२ ॥

॥ अथ गार्हपत्योपस्थानमन्त्राः ॥

अतः परं गार्हपत्याग्निं गत्वोपतिष्ठते—

उप त्वाग्ने दिवेदिवे-दोषावस्तर्धिया वयम्। नमो भरन्त एमसि ॥ १ ॥
राजन्तमध्वराणां—गोपामृतस्य दीदिविम्। वर्द्धमानं स्वे दमे ॥ २ ॥
स नः पितेव सूनवे—ऽग्ने सूपायनो भवे। सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ३ ॥

हे अग्ने! अग्निर्हि रात्रिं प्रविवेशेति श्रौतेतिहासः। हे दोषावस्तः! रात्रौ वसनशील! गार्हपत्य वयं यजमानाः श्रद्धायुक्तया बुद्ध्या नमस्कारमावहन्तः प्रतिदिनं त्वामुपैमः—त्वां प्रत्यागच्छामः इत्याह। किञ्च दीप्यमानं यज्ञानां गोप्तारं सत्यलक्षण व्रतस्य दीपयितारं मदीये निजे गृहे चातुर्मास्य सोमपश्वादिभिरभिवृद्धिं गच्छन्तं त्वामुपैम इत्याह। हे अग्ने! गार्हपत्य! स ईदृशगुणयुक्तस्त्वमस्माकं सुखेनोपैतुं शक्यो भव। यथा पिता पुत्राय निर्भयमुपगम्यते। किञ्च—अस्माकं क्षेमाय कर्म्मणा समवेतो भव। यथा पिता पुत्रस्य कल्याणे व्यापृतो भवति दुःखाद्दित्रणाय च तैर्भिः शङ्कमाश्रीयते तथैव त्वमस्मदर्थे भवेत्याह ॥ १४ ॥

अग्ने त्वं नो अन्तम उत त्राता शिवो भवा वरूथ्यः ॥ १ ॥
वसुरग्निर्वसुश्रवा अच्छा नक्षि द्युमत्तमं रयिं दाः ॥ २ । १५ ॥

तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमीमहे सखिभ्यः ॥ ३ ॥
स नो बोधि श्रुधी हवमुरुष्याणो अघायतः समस्मात् ॥ ४ । १६ ॥

हे अग्ने ! गार्हपत्य ! त्वमस्माकं समीपवर्ती भव—अपि च पालयिता, शान्तः, गृहाय हितो भव । हे अग्ने ! त्वं जनानां वासयिता धनेन च कीर्तिमानसि । स त्वमच्छानक्षि अभिव्याप्नुहि । यद्वा हे अच्छ ! निर्मलाग्ने ! अस्मद्धोमस्थानं गच्छ । किञ्च अतिदीप्तियुक्तं धनं देहि । हे दीप्तिमत्तम ! हे सर्वस्य दीपयितः ! तं पूर्वोक्तगुणयुक्तं त्वां सखिभ्योऽर्थाय सुम्नाय सुखाय निश्चयेन याचामहे—यद्वा–सुखार्थं अस्मत्सखीनामुपकाराय च त्वामीमहे। स त्वमस्मान् बुध्यस्व, तथास्मदीयमाह्वानं शृणु, सर्वस्मादेव शत्रोरस्मानुत्कृष्य परिरक्षेत्याह ॥ १६ ॥

अथ गां गच्छति—

इड एह्यदित एहि ॥ काम्या एत, मयि वः कामधरणं भूयात् ॥ १७ ॥

हे इडे ! आगच्छ । हे अदिते ! आगच्छ होमस्थानम् । अतिदेशोऽयम् । हे गौः ! इडा यथा मनुं तथा त्वमस्मानेहि । अदितिर्यथा आदित्यान् तथा त्वमस्मानेहीत्याह । इडा मनोर्दुहिता अदितिर्देवमाता । अथ गामालभमानो ब्रूते—हे काम्याः ! सर्वैः कामयितव्याः । गावः यूयमागच्छत । युष्माकं कामधरणमपेक्षितफलधारकत्वं मयि भूयात् । युष्मत् प्रसादादहमभीष्टफलधारयिता भूयासमित्याह। यद्वा–मयि युष्माकमनुरागस्थितिर्भूयादित्याह । तथा च श्रुतिः–"अहं वः प्रियो भूयासमिति" ॥ (२ । ३ । ४ । ३४) ॥ १७ ॥

अथ व्रतोपायनवदपरेणाहवनीयं प्राङ् तिष्ठन्नवर्चं जपति—

सोमानं स्वरणं, कृणुहि ब्रह्मणस्पते,
कक्षीवन्तं य औशिजः ॥ १ ॥
यो रेवान् यो अमीवहा, वसुवित् पुष्टि–
वर्द्धनः, स न सिषक्तु यस्तुरः ॥ २ ॥
मा नः शंसो अररुषो, धूर्त्तिः प्रण–
ङ्मर्त्यस्य, रक्षा णो ब्रह्मणस्पते ॥ ३ ॥

हे ब्रह्मणस्पते ! वेदस्य पालक ! उशिजो गर्भजातं दीर्घतमस औरसं कक्षीवन्तमृषिं—सोमानामभिषोतारं शब्दयितारं कुरु । अतिदेशोऽयम् । कक्षीवन्तमिव मां सोमयागकर्तारं स्तोतारं च कुर्वित्याह ॥१॥ यो ब्रह्मणस्पतिर्धनवान् यश्च रोगस्य हन्ता । धनज्ञाता, पोषकः ।

यश्च तुरो वेगशीलोऽविलम्बितकारी । स ब्रह्मणस्पतिरस्मान् सेवताम् इत्याह । यद्वा—धनवान् व्याधिहन्ता धनोपार्जकः पोषकः शीघ्रकारी च पुत्रोऽस्मान् सेवतामित्याह ॥२॥ हे ब्रह्मणस्पते ! अस्मान् रक्ष । येन कदाचिदपि हविर्दानमकृतवतो मनुष्यस्य द्रोहो हिंसा चास्मान् न व्याप्नुयात् नाशयेद्वा इत्याह ॥३॥ ररौ स ररिवान् तस्यायं प्रतिषेधः । शंसोऽनिष्टचिन्तनं, धूर्तिर्हिंसा ॥२०॥

महि त्रीणामवोऽस्तु, द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः, दुराधर्षं वरुणस्य ॥ १ ॥
नहि तेषाममा चन, नाध्वसु वारणेषु ईशे रिपुरघशंसः ॥ २ ॥
ते हि पुत्रासो अदितेः प्रजीवसे मर्त्याय । ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम् ॥ ३ ॥

मित्रस्यार्यम्णो वरुणस्येति त्रयाणां देवानां सम्बन्धि महद्रक्षणं भवतु, यत् प्रकाशाश्रयं तिरस्कर्तुमशक्यञ्च इत्याह ॥ १ ॥ वारणप्रधानेषु चोर व्याघ्रादिभयाढ्येषु मार्गेषु गच्छतां नापि वा गृहेष्वपि सतां तेषां मित्रवरुणार्य्यमपालितानां यतस्तावन्न घातको रिपुः प्रभवति मित्रादिभिः पालितानामस्माकं गृहेऽरण्ये वा नास्ति शत्रुबाध इत्याह ॥ २ ॥ यतस्ते मित्रार्य्यम-वरुणाः अखण्डितशक्तेर्देवमातुः पुत्रा मनुष्याय यजमानाय जीवितुं निरन्तरमनुपक्षीणं तेजः प्रयच्छन्ति ततो नः पूर्वोक्तशत्रुबाध इत्याह ॥ ३ ॥ अयं तृचः पथि जप्त उपद्रवनाशको भवति ॥ २३ ॥

कदाचन स्तरीरसि, नेन्द्र सश्चसि दाशुषे
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते, दानं देवस्य पृच्यते ॥ २४ ॥

हे इन्द्र ! परमैश्वर्य्ययुक्त ! त्वं कदापि हिंसको नासि । किन्तु हविर्दत्तवन्तं यजमानं सेवसे । हे मघवन् ! धनवन् ! प्रकाशमानस्य तव बहुतरमेव दानं क्षिप्रमेव दाश्वांसमुपोपपृच्यते । न कदाचिद् यजमानं प्रति क्रुध्यसि, सेवसे च तं, त्वदीयं भूयो धनं दाश्वांसमुपगच्छति॥ इत्याह ॥ इदेवार्थः । नु क्षिप्रार्थः ॥ २४ ॥

तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि ।
धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २५ ॥

तस्य सवितुः सर्वप्रेरकस्य देवस्याराध्यं वीर्य्यं ध्यायामः योऽस्माकं बुद्धिः कर्म्माणि वा प्रेरयति इत्याह । "वरुणाद्ध वा अभिषिषिचानाद् भर्गोऽपचक्राम—वीर्यं वै भर्गः" इति श्रुतिः (५ । ४ । ५ । १) मण्डलं पुरुषो रश्मय इत्यपि त्रयं भर्गः शब्दाभिधेयम् ॥ २५ ॥

परि ते दूडभो रथोऽस्माँ अश्नोतु विश्वतः । येन रक्षसि दाशुषः ॥

हे अग्ने! दुर्दभः केनापि सहसा हिंसितुमशक्यस्तव रथो अस्मान् सर्वतः पर्य्याप्नोतु। येन रथेन त्वं दाशुषो यजमानान् पालयसि। "यजमाना वै दाश्वांसः" इति श्रुतिः। (२।३।४।३८)॥ २६॥

इति बृहदुपस्थानं समाप्तम्॥

॥ अथक्षुल्लकोपस्थानम् ॥ (आसुरिदृष्टम्)

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां, सुवीरो वीरैः, सुपोषः पोषैः॥१॥

नर्य्य प्रजां मे पाहि। शंस्य पशून्मे पाहि, अथर्य्य पितुं मे पाहि॥२॥

हे अग्ने! गार्हपत्य! आहवनीय! वा—त्वं व्याहृतित्रयात्मकः लोकत्रयात्मको वासि। अतस्त्वत्प्रसादादहं प्रजाभिर्बन्धुभृत्यादिरूपाभिः कृत्वा सुप्रजा भवेयम्। तथा पुत्रैः सत्पुत्रवान् भवेयम्। एवं पोषकसामग्रीभिर्हिरण्यादिद्रव्यैः सुपुष्टो भवेयमित्याह॥१॥

अथ यजमानो यदि ग्रामान्तरं गन्तुमिच्छति तदानीं सर्वानग्नीनुपतिष्ठेत तदिदं प्रवत्स्यदुपस्थानमुच्यते, तथाहि हे नर्य्य! नरेभ्योहित! गार्हपत्य! मम प्रजां रक्षेत्याह। हे शंस्य! अनुष्ठातृभिः प्रशंसनीय! आहवनीय! मम पशून् रक्षेत्याह॥ हे अथर्य्य! सततं गार्हपत्यात् स्वस्थानं प्रति गमनशील! दक्षिणाग्ने! ममान्नं रक्षेत्याह॥२॥

अथ प्रत्यावृत्तः समित्पाणिः कञ्चिदपि जनमगात्वैव प्रथममेवाग्न्यागारं प्राप्य आहवनीय गार्हपत्य–दक्षिणाग्नीन् प्रत्येकमुपतिष्ठेत तदिदमागतोपस्थानमुच्यते। तत्र तावदाहवनीयमुपतिष्ठते।

आगन्म विश्ववेदस मस्मभ्यं वसुवित्तमम्।
अग्ने सम्राडभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व॥१॥

हे अग्ने! हे सम्राट्! आहवनीय! सर्वज्ञं सर्वधनं वाऽस्मदर्थेऽतिशयेन धनस्य लब्धारं त्वामुद्दिश्य वयं ग्रामान्तरात् प्रत्यागताः स्मः। स त्वमस्मभ्यं यशो बलं च देहीत्याह॥१॥
अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते—

अयमग्निर्गृहपति र्गार्हपत्यः प्रजाया वसुवित्तमः।
अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभि सह आयच्छस्व॥२॥

अयं पुरोऽवस्थितोऽग्निर्गार्हपत्यो नाम गृहस्य पालकोऽस्ति–प्रजायाश्च पुत्रपौत्रादिकाया

अनुग्रहार्थमतिशयेन धनस्य लब्धा भवति तं याचे। हे अग्ने! हे गृहपते! गार्हपत्य! स त्वं यशो बलं चाभ्याऽऽयच्छस्व इत्याह ॥ २ ॥ एवं दक्षिणाग्निम्--

अयमग्निः पुरीष्यो रयिमान् पुष्टिवर्द्धनः।
अग्ने पुरीष्याभि द्युम्नमभि सह आयच्छस्व ॥ ३ ॥

योऽयमग्निः पशव्यो धनवान् पुष्टिवर्द्धयिता च तं याचे। हे अग्ने! हे पशुहित! दक्षिणाग्ने! अस्मभ्यं यशो बलं चाभ्यायच्छस्व इत्याह॥ "पशवो वै पुरीषम्" इति श्रुतिः ॥४॥

अथैवं ग्रामान्तरादागतो गृहानुपैति—

गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमनाः सुमेधा, गृहानैमि मनसा मोदमानः ॥ १ ॥
येषामध्येति प्रवसन्, येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुपह्वयामहे, ते नो जानन्तु जानतः ॥ २ ॥
उपहूता इह गाव, उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल, उपहूतो गृहेषु नः॥
क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये, शिवं शग्मं शंयोः शंयोः ॥ ३ ॥

हे गृहाः! पालको यजमानो गत इति भयं मा कुरुत--कोऽपि शत्रुरागत्य विनाशयिष्यतीति बुध्या कम्पं वा मा कार्ष्ट। यतो वयमूर्जं धारयमाणानेव युष्मानागताः स्मः। यथा यूयमूर्जं बिभ्रतः--तथाहमपि ऊर्जं धारयन् सुप्रसन्नः सुष्ठुधारणप्रज्ञोपेतो दुखःरहितेन मनसा हृष्यन् युष्मान् प्रत्यागच्छामीत्याह ॥ १ ॥ अथ देशान्तरं गच्छन् यजमानो यान् गृहान् स्मरति येषु च गृहेषु यजमानस्यातिशयितः प्रेमा। तान् गृहान् वयमाह्वयामः। ते वास्तुदेवाः आहूताः सन्त उपकाराभिज्ञानस्मान् जानन्तु इत्याह ॥ २॥ अस्माकं गृहेष्वेतेषु धेनवो बलीवर्दाश्च सुखेनावस्थानाय संप्रत्यस्माभिरनुज्ञाताः खलु। एवमेव छागा मेषाश्चात्रावस्थानायोपहूताः। अपि च—अन्नसम्बन्धी रसविशेषोऽप्यस्मदीयेषु गृहेषु समृद्धो भवत्वित्येवमनुज्ञातम्। हे गृहाः! विद्यमानवसुरक्षणरूपक्षेमाय सर्वानिष्टशमनाय च युष्मान् प्रपद्ये। अतः कल्याणं

कामयमानस्य शंयोरैहिकं सुखमामुष्मिकञ्च सुखं भूयात् इत्याह ॥ ३ ॥ शंयुर्नाम ऋषिः । अभ्यासः सम्पूर्तिसूचनार्थः मङ्गलातिशयार्थश्चेति शिवम् । इत्युपस्थानमन्त्राः समाप्ताः ॥

आहवनीयं नवभिस्त्रिभिरथ गां, गार्हपत्यं तु ।
सप्तभिरथ गां द्वाभ्यां, नवभिस्तु ब्रह्मणस्पातिकम् ॥ १ ॥
पञ्चभिरग्नींस्त्रिभिरथ गृहानुपास्ते ह्युपस्थाने ।
क्षुल्लकमष्टकमन्त्यं, बृहदन्यत् त्रिंशता क्लृप्तम् ॥ २ ॥
आधानमष्टभिर्होमः सप्तभिस्त्रिंशता बृहत् ।
उपस्थानं क्षुल्लकं तु मन्त्रैरष्टाभिरिष्यते ॥ ३ ॥
आधानहोमोपस्थानैस्त्रिभिः प्रकरणैरयम् ।
त्रिपञ्चाशन्मितैर्मन्त्रैरग्निहोत्रविधिः श्रुतः ॥ ४ ॥

इत्यग्निहोत्राधिकारः ॥

१—अग्न्याधाने—मन्त्राः—अष्टौ—८
२—होमे सप्त मन्त्राः— ७
३—बृहदुपस्थाने त्रिंशन्मंत्राः— ३०
 ९ आहवनीयोपस्थाने—नव
 ३ गवामुपस्थाने—त्रय
 ७ गार्हपत्योपस्थाने—सप्त
 २ गवामुपस्थाने—द्वौ
 ९ ब्राह्मणस्पत्यजपे—नव
 ३०
४—क्षुल्लकोपस्थाने— ८
 ५ अग्नित्रयोपस्थाने—
 ३ गृहोपस्थाने—
 ८ ५३

॥ अथ चातुर्मास्याधिकारः ॥



चातुर्म्मास्यो नाम यागविशेषः । स पर्वचतुष्टयात्मकः । तानि च वैश्वदेव—वरुणप्रघास—साकमेध—शुनासीरीयाख्यानि चत्वारि पर्वाणि । तत्र वरुणप्रघासाख्ये द्वितीये पर्वणि दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर्हविःष्वादितेषु प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानंस्तदीयं प्रेमपात्रं पतिं पृच्छेत्—"केन चरसीति" । सापि तं ब्रूयात् । ततः एनां नयन् प्रतिप्रस्थाता मारुतीं गायत्रीं वाचयति—

प्रघासिनो हवामहे मरुतश्च रिशादसः, करम्भेण सजोषसः ॥ १ ॥

यवमयो हविर्विशेषः करम्भः । तेन समानप्रीतीन् धातुकोपचयकरान् प्रघासिनामकमरुदुपलक्षितान् सप्तसप्तकान् मरुतो नाम देवान् सपरिचारकान् वयं हवामहे इत्याह ॥ प्रघासी नाम मरुतामेकः । बहुवचनं गणमाक्षिपति ॥ १ ॥

अथ यवपिष्टेन निर्म्मितानि यानि सन्तानपरिमितान्येकाधिकानि वर्तुलादिरूपाणि करम्भपात्राणि—तानि शूर्पेण मूर्द्धनि कृत्वा प्रत्यङ्मुखी पत्नी दक्षिणाग्नौ जुहुयात् । अथ वा जायापती दक्षिणेन मार्गेण तानि पात्राण्याहृत्य वेद्याः पूर्वदिशि पश्चिमदिशि वा स्थित्वा जुहुयाताम्—

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चकृमा वयमिदं तदवयजामहे—स्वाहा ॥ २ ॥

ग्रामे वसन्तो वयं यत्पापं प्रतिवेशिपीडादिकं कृतवन्तः—यच्च वने वसन्तो मृगोपद्रवादिकं पापं कृतवन्तः । तथा सभायां गता वयं महाजनतिरस्कारादिकं यत्पापं कृतवन्तः । एवमिन्द्रिये जिह्वोपस्थादिके तत्सुखे वा निमित्तभूते यत्पापं कलञ्जभक्षणपरस्त्रीगमनादिकं कृतवन्तः । अन्यद्वा यत्किञ्चिदेव ज्ञातमज्ञातं वा पापं कृतवन्तः । तदिदं सर्वमेव पापं विनाशयामः इत्याह ॥ २ ॥

अथ यजमानो जपति—

"मो षू ण इन्द्रात्र पृत्सु देवैरस्ति हि ष्मा ते शुष्मिन्नवयाः ।
महश्चिद्यस्य मीढुषो यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दते गीः ॥ ३ ॥

हे इन्द्र ! एषु सङ्ग्रामेषु देवैर्मरुत्संज्ञैः सहितस्त्वमस्मान् सुष्ठु मो विनाशयेति वाक्यशेषः ।

हे शुष्मिन्! बलवन्निन्द्र! तव भागपार्थक्यादवयुतो यागोऽस्ति हि स्म। वृष्टिप्रदत्वेन सेक्तुर्हविर्योग्यस्य च यस्य तव यवमयैः करम्भपात्रैर्निष्पन्ना होमक्रिया हि पूजा खलु भवति। अथ अस्मदीया चेयं वाणी मरुतो भवतः सखीन् नमस्करोतीत्याह्॥ ३॥

अथैनां वाचयति—

अक्रन् कर्म कर्मकृतः सह वाचा मयोभुवा।
देवेभ्यः कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत सचा भुवः॥ ४॥

वरुणप्रघासाख्यकर्मकारिण ऋत्विजः सुखोत्पादिकया स्तुतिवाचा सह वरुणप्रघासानुष्ठानरूपं कर्म्म कृतवन्तः। हे सचाभुवः! अस्मिन् कर्म्मणि सहभूता ऋत्विजः! देवोद्देशेन वरुणप्रघासनामकमिदं कर्म्मानुष्ठाय सम्प्रति गृहं गच्छत इत्याह॥ ४॥

अथ वरुणप्रघासस्य कर्म्मणोऽन्ते तदङ्गभूतमवभृथाख्यं कर्म्म जलसमीपे क्रियते तत्र दम्पतीभ्यां जले स्नातव्यमनेन यज्ञदैवतेन यजुषा—

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुणः
अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमव मर्त्यैर्—
मर्त्यकृतम्। पुरुराव्णो देव रिषस्याहि॥ ५॥

अर्वाचीनानि पात्राणि जलमध्ये भ्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः सम्बोध्योच्यते। हे अवभृथ! यज्ञ! हे निचुम्पुण! नितरां मन्दगमनशील! यद्यपि त्वं निचेरुः=नितरां गमनशीलोऽसि तथाप्यत्र निचुम्पुणो=मन्दगमनो भव यतोऽहं द्योतनात्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैः हविःस्वामिषु देवेषु कृतं यत्पापं तद्—अवायासिषम्=अस्मिन् जलेऽवनीतवानस्मि। तथा मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिः मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यत्पापं तदप्यवायासिषम् अत इदमस्मत्त्यक्तं पापं यथा त्वां न व्याप्नोति तथा मन्दं गच्छेति। किञ्च—हे देव! अवभृथयज्ञ! बहुविरुद्धफलप्रदायकाद्वधात्पालय=विरुद्धफलदायी वधस्त्वत्प्रसादादस्माकं मा भूदित्याह॥ ५॥

इति वरुणप्रघासमन्त्राः।

अथ साकमेधः ।

तत्र दर्व्या स्थालीत ओदनग्रहणं करोति । दर्वी चान्नप्रदानसाधनभूता काष्ठादिनिर्म्मिता भवति । तां प्रति तावद् ब्रूते—

पूर्णा दर्वि परापत सुपूर्णा पुनरापत ।
वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्ज्जं शतक्रतो ॥ १ ॥

हे दर्वि ! त्वं स्थाल्याः सकाशादन्नं गृहीत्वा पूर्णा भूत्वा उत्कृष्टा सती पत=इन्द्रं प्रतिगच्छ कर्म्मफलेन च सुष्ठु पूर्णा सती भूयोऽस्मान् प्रत्यागच्छ । हे शतक्रतो ! बहुकर्म्मन् इन्द्र ! त्वं चाहं चोभौ वस्नेव मूल्येनेव अभीष्टं हविःस्वरूपमन्नं हविर्दानफलरूपं रसविशेषं च विक्रीणावहै परस्परं द्रव्यविनिमयरूपविक्रयं करवावहै=अहं तुभ्यं हविर्ददामि त्वं च मह्यं फलं देहीत्याह ॥१॥

अथ तमोदनं जुहोति—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते=स्वाहा ॥ २ ॥

इन्द्रो वदति । हे यजमान ! त्वं प्रथमं मह्यं हविः प्रयच्छ पश्चादहं तवापेक्षितं फलं प्रयच्छामि । पुनरादरार्थमुच्यते—प्रथमं त्वं मह्यं हविर्नितरां सम्पादय । ततस्तुभ्यं यजमानाय अपेक्षितं फलं नितरां सम्पादयामि ॥ एवमिन्द्रवाक्यं श्रुत्वा यजमानो वदति—

निहारं मूल्येन क्रेतव्यवस्तुरूपं फलं मह्यं यजमानाय प्रयच्छ । निहारं मूल्यभूतं हविस्तुभ्यमिन्द्राय नितरां समर्पयामि इत्याह । स्वाहेति हविःप्रक्षेपः ॥२॥

अथ साकमेधपर्वणि पितृयज्ञः

अथ साकमेधगते पितृयज्ञाख्ये कर्म्मणि आहवनीयोपस्थानम्। तत्र यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्च आहवनीयमुपतिष्ठन्ते—

"अक्षन्नमीमदन्त ह्यवप्रिया अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती।
योजा न्विन्द्र ते हरी॥ १॥
सुसंदृशं त्वा वयं मघवन्वन्दिषीमहि।
प्र नूनं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यासि वशान् अनु।
योजा न्विन्द्र ते हरी॥ २॥

पितृयज्ञाख्ये कर्म्मणि ये पितरः सन्ति तेऽस्माभिर्दत्तं हविःस्वरूपमन्नं—भक्षितवन्तः। हि यतः—हर्षं प्राप्तवन्तः—अतएव प्रियास्तनूरवकम्पितवन्तः। किञ्च—स्वयं दीप्तियुक्ता मेधाविनः सन्तो नवतमया मत्या स्तुतिं कृतवन्तः—"अहो स्वाद्वन्नं, बहुदत्तमहो भक्तिरित्याद्यभिहितवन्तः।" अत एव हे इन्द्र! क्षिप्रं तव हरिनामकौ हरितवर्णावश्वौ गमनाय रथे योजय=तवाभीष्टायाः पितृतृप्तेः सम्पन्नत्वात्तैः पितृभिः सह त्वया गन्तव्यमित्याह॥१॥

हे मघवन्! इन्द्र अनुग्रहदृष्ट्या सर्वस्य द्रष्टारं त्वां वयं वन्दिषीमहि=स्तुतिकर्तारो भूयास्म। यतस्त्वं स्तुतः सन् स्तोतृभ्यो दातव्यधनैः पूर्णरथनीडो भूत्वा कामयमानान् यजमानान् प्रति अवश्यं प्रयासि। हे इन्द्र! स त्वं क्षिप्रं तव हरी अश्वौ रथे योजयेत्याह॥२॥

अथ गार्हपत्यमुपतिष्ठते—

मनो न्वाह्वामहे नाराशंसेन स्तोमेन, पितॄणां च मन्मभिः॥ १॥
आ न एतु मनः पुनः, क्रत्वे दक्षाय जीवसे, ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ २॥
पुनर्नः पितरो मनो, ददातु दैव्यो जनः, जीवं व्रातं सचेमहि॥ ३॥

पितृयज्ञानुष्ठानेन चित्तं पितृलोकं गतमिवासीत्—तदिदं पुनरानीयते खलु॥ मनुष्याणां योग्यं प्रशंसनं नराशंसः। तत्सम्बन्धिना स्तोत्रेण—तथा यैः पितरो मन्यन्ते तादृशैः स्तोत्रैश्च मनः क्षिप्रमाह्वयामः इत्याह॥ १॥ अस्माकं मनः पुनरायातु, यज्ञसङ्कल्पाय, कर्मण्युत्साहाय च, चिरं जीवितुं, चिरकालं सूर्यमवलोकयितुं च इत्याह—'तदेव मनसा कामयते इदं मे स्यादिदं कुर्वीयेति स एव क्रतुरथ यदस्मै तत्समृद्ध्यते स दक्षः"—इति श्रुतिः॥ २॥ हे पितरः!

भवदनुज्ञया देवसम्बन्धी पुरुषः अस्मन्मनः पुनरस्मभ्यं प्रयच्छतु येन वयं जीवनवन्तं गणं पुत्रपश्वादिकं सेवेमहि इत्याह ॥ ३ ॥

अथ योऽयं पितृयज्ञे सोमनामको देवस्तद्गायत्रीं जपति—

वयं सोम व्रते तव, मनस्तनूषु बिभ्रतः प्रजावन्तः सचेमहि ॥ १ ॥

हे सोम ! तव कर्मणि वर्तमानाः, त्वच्छरीरे निजं चित्तं धारयन्तः, त्वत्कृपया पुत्रपौत्रादिसम्पन्नाः, सन्तो वयं सेवितव्यानि सेवेमहि इत्याह । अशुद्धोऽयमनर्गलोऽर्थो महीधरकृतः। वस्तुतस्तु—हे सोम ! प्राणिनां शरीरेषु मनो वस्तु प्रवेशयतस्तव वृतौ वयं सर्वे प्रजासहिताः समवेताः स्म इत्याहेति परे ॥१॥

अथ साकमेधगतत्र्यम्बकहविर्विषया मन्त्राः

तत्रादौ द्वे यजुषी—आद्येनावदानं जुहोति—अथापरेणातिरिक्तमाखूत्करे उपकिरति—अत्र हि यजमानस्य यावन्तः पुत्रभृत्यादयः पुरुषा भवन्ति तान् गणयित्वा प्रतिपुरुषमेकैकः पुरोडाश इत्येतावतः पुरोडाशान्निरूप्य ततोऽप्यधिकमेकं पुरोडाशं निर्वपेत्—सोऽयमतिरिक्तो नाम तं न जुहुयात्—किन्तु मूषकोत्खाते उपकिरेत्—

"एष ते रुद्र भागः, सह स्वस्राऽम्बिकया तं जुषस्व—स्वाहा ॥ १ ॥

एष ते रुद्र भागः, आखुस्ते पशुः ॥ २ ॥

हे रुद्र ! एष पुरोडाशः तव भागः प्रकल्पितः । तञ्च स्वभगिन्या अम्बिकानाम्न्या सह सेवस्व इत्याह । "अम्बिका ह वै नामास्य'स्वसा—तयास्यैष सह भागः ।" इति शतपथश्रुतिः ॥ २ । ६ । २ । ९ ॥ इयं चाम्बिका शरदृतुरूपा—तथा च तित्तिरिः—

"एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया इत्याह—शरद्वा अस्याम्बिका सा भिया एषा हिनस्ति—यं हिनस्ति—तयैवैनं सह शमयति।।" इति ॥ १ ॥

हे रुद्र ! एषोऽस्माभिरुपकीर्यमाणोऽतिरिक्तः पुरोडाशः तव भागः । तथा मूषकस्तव पशुत्वेन समर्पितः इत्याह—आखुदानेन तुष्टो रुद्रस्तयाम्बिकया यजमानपशून्न मारयति ॥ २ ॥

अथ जपति—

"अव रुद्र मदीमह्यव देवं त्र्यम्बकम् ।

यथा नो वस्यसस्करद्—यथा नः श्रेयस्करद्

यथा नो व्यवसाययात् ॥ १ ॥

भेषजमासि, भेषजं गवेऽश्वाय ।
पुरुषाय भेषजं, सुखं मेषाय मेष्यै" ॥ २ ॥

पृथग् रुद्रं भोजयामः, पृथक् त्र्यम्बकं देवं भोजयामः । येनासौ रुद्रोऽस्मान् वस्तृतरान् वसनशीलान् कुर्यात्—येन वा ज्ञातिषु प्रशस्यतरान् कुर्यात्—येन चास्मान् सर्वेषु कार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात् इत्याह ॥ १ ॥

हे रुद्र ! त्वमौषधवत् सर्वोपद्रवनिवारकोऽसि । अतोऽस्माकं गवेऽश्वाय पुरुषाय सर्वव्याधिनिवारकमौषधं—देहि मेषाय मेष्यै च सुखं देहि इत्याह । अनेन जप्तेन गृहपशूनां क्षेमप्राप्तिर्भवति ॥ २ ॥

अथ पितृवत्सन्योरूनाम्नाना अग्निं त्रिः परियन्ति, देववच्च पुनर्दक्षिणानाम्नाना अग्निं त्रिः परियन्ति, तत्तद्यजमाना आद्येन, तेषां कुमार्यश्चोत्तरेण ।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनम् ॥
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥ १ ॥
त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् ॥
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः ॥ २ ॥

दिव्यगन्धोपेतं मर्त्यधर्महीनं धनधान्यादिपुष्टेर्वर्द्धयितारं नेत्रत्रयोपेतं रुद्रं पूजयामः । ततो रुद्रप्रसादादहं यथा कर्कन्ध्वादेः फलमत्यन्तपक्वं सत् स्वस्य वृन्तात् प्रमुच्यते तद्वदपमृत्योः संसारमृत्योश्च मुक्तो भूयासम्—स्वर्गरूपान्मुक्तिरूपाच्चामृतान्मुक्तो मा भूयासमित्याह ॥ १ ॥

अथाग्निं परिक्रमन्त्यः कुमार्यः पठन्ति—भर्त्तुर्लम्भयितारं त्र्यम्बकं पूजयामः । यत्प्रसादादहं कर्कन्ध्वादिफलमतिपक्वं स्ववृन्तादिवस्वपैतृकबन्धुवर्गान्मुक्ता भूयासम्—विवाहादूर्ध्वं भविष्यतः पत्युश्च मुक्ता मा भूयासम् जनकस्य गोत्रं गृहं च परित्यज्य पत्युर्गोत्रे गृहे च सदा त्र्यम्बकप्रसादाद्वसामीत्याह ॥ "सा यदित इत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह । मामुत इति पतिभ्यस्तदाह"—इति श्रुतिः ॥ २ । ६ । २ । १४ ॥

अथैतत्त्र्यम्बकहविःशेषद्रव्यमादाय क्वचिदुन्नतप्रदेशे तथा न्यस्तव्यं यथा तदाघ्राय गावो रोगं न प्राप्नुयुः । तथाच तान् त्र्यम्बकान् हविःशेषान् कयोश्चिन्मूतयोः कृत्वा स्वकीयेनांसेन वोढुं शक्यायां वंशयष्ट्यामग्रद्वये तन्मूतद्वयमत्रासज्य स्थाणौ वृक्षे वंशे वल्मीके वा तां वंशयष्टिं मूतद्वययुतामासजति । व्रीहियवादीन् बध्वा वहनार्थं तृणवंशादिनिर्म्मितः पात्रविशेषो मूतम् ॥

"एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासा
अहिंसन्नः शिवोऽतीहि ॥ १ ॥

मूजवान्नाम कश्चित्पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानम्। अवसस्तु देशान्तरं गच्छतो मार्गमध्ये तटाकादिसमीपे भोक्तव्य ओदनविशेषः। हे रुद्र! एतद्धविःशेषाख्यं भोज्यं तव पाथेयं भवति—तेन सहितस्त्वं मूजवतः पर्वतात् परभागवर्ती सन्नतिगच्छ किञ्च अस्मद्विरोधिनां त्वया निवारितत्वादित ऊर्ध्वं धनुषि ज्यारोपणस्य प्रयोजनाभावादतः परमवरोपितचापः—तथा मार्गेऽन्येषां भयं न स्यादित्येवमर्थमिव वस्त्रादिना प्रच्छादितपिनाकाख्यचापः—चर्माम्बरस्त्वमस्मानहिंसन् अस्मदीयपूजया सन्तुष्टश्च भूत्वा तत्पर्वतमतिक्रम्य गच्छ इत्याह। इत्येवमुक्ते वृक्षादौ मूतद्वयेऽवसज्य प्रत्यावर्त्तमाना मूतद्वयं पश्चादनवेक्ष्यैव वेदिसमीपे समागत्योदकं स्पृशेयुः ॥ १ ॥

समाप्ता रुद्रमन्त्राः ॥ ६ ॥

अथ यजमानो (वपनकाले) जपति—

"त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ १ ॥

त्रयाणां बाल्ययौवनस्थाविराणामायुषां समाहारस्त्र्यायुषम्। तदिदं यथा जमदग्निमुनेः यथा कश्यपप्रजापतेः—यथा वेन्द्रादिदेवेषु—तथैवैतन्सर्वं त्र्यायुषमस्माकं यजमानानां भवतु इत्याह ॥ १ ॥

अथ लोहक्षुरमादाय जपति—हे क्षुर!

"शिवो नामासि स्वधितिस्ते पिता नमस्ते अस्तु—मा मा हिंसीः।
निवर्त्तयाम्यायुषेऽन्नाद्याय प्रजननाय रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्य्याय ॥

त्वं नाम्ना शिवोऽसि—वज्रं तव पिता भवति। तुभ्यं नमोऽस्तु। मां मा हिंसीः॥ अथ वपति। हे यजमान! संजीवनाय, अन्नभक्षणाय, सन्तानाय, धनपुष्ट्यै, शोभनापत्यतायै, सुष्ठु सामर्थ्याय च त्वां मुण्डयामीत्याह ॥ १ ॥

शिवमिति शिक्यम्—

वरुणप्रघासमन्त्राः पञ्च, चतुर्दश तु साकमेधीयाः ।
द्वौ वपनस्य तदित्थं मन्त्रा अत्रैकविंशतिः सिद्धाः ॥ १ ॥

॥ इति चातुर्मास्याधिकारः ॥

हविर्यज्ञपरिच्छेदः पूर्णस्तिसृभिरिष्टिभिः ।
त्रयस्त्रिंशशतं मन्त्रास्तत्रैते विनियोजिताः ॥ १ ॥

इति हविर्यज्ञपरिच्छेदः

अथ द्वितीयं मण्डलम्

प्राक्सौमिके हविर्यागे मन्त्राः पूर्वं प्रदर्शिताः ।
अतः परं सोमयागे येमन्त्रास्तान् निबोधतः ॥ १ ॥

तत्र तावदग्निष्टोमाधिकारः ॥

तत्रादौ यजमानः षोडशर्त्विजो वृत्वा अरण्योरग्नी समारोप्य शालां गच्छेत्, शालास्तम्भं पूर्वार्द्धं गृहीत्वा अरणिपाणिर्जपति—

एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवासो अजुषन्त विश्वे ।
ऋक्सामाभ्यां सन्तरन्तो यजुर्भी रायस्पोषेण समिषा मदेम ॥१॥

वयं पृथिव्याः सम्बन्धि इदं देवयजनप्रदेशमागताः स्मः । यत्र सर्वे देवाः प्रीत्या स्थिताः सन्ति । किञ्च ऋक्सामाभ्यां यजुर्भिश्च मन्त्रैः सोमयागं समापयन्तो वयं धनपुष्ट्या अन्नेन च संमदेम हृष्टा भवेमेत्याह ॥

दक्षिणं गोदानं वितार्य उनत्ति—

इमा आप शमु मे सन्तु देवीः ॥ २ ॥

शिरः क्लेदाय सिच्यमाना निर्म्मलतया द्योतना एताः आपो मम यजमानस्य सुख कारिण्य एव भवन्तु इत्याह ॥

अथ पश्वर्थयूपवदिहापि तृणमन्तर्धाय क्षुरेण च्छेदयति—

ओषधे ! त्रायस्व ॥ ३ ॥
स्वधिते ! मैनं हिंसीः ॥ ४ ॥

हे कुशतरुण ! त्वं यजमानं क्षुराद्रक्षेत्याह ।
हे क्षुर ! एनं यजमानं मा हिंसीः इत्याह ॥

अथ कृतक्षौरः स्नाति—

आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतने नो ।
घृतप्वः पुनन्तु विश्वं हि रिप्रं वहन्ति देवी ॥ ५ ॥

जगन्निर्मात्र्यो मातृवत्पालयित्र्यो वा आपः कृतक्षौरानस्मान् यजमानान् शोधयन्तु=

क्षौरकर्मनिमित्तामपहर्तिं निवारयन्तु । किञ्च—क्षरितजलद्वारा पावनशीला जलदेवताः क्षरितजलेनास्मान् पवित्रयन्तु । किञ्च—द्योतमाना इमा आपः सर्वमेव पापं प्रकर्षेणापनयन्तु—इत्याह ॥

उत्तरपूर्वार्द्धमुत्क्राम्यति—

उदिदाभ्यः शुचिरापूत एमि ॥ ६ ॥

स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धोऽहमाभ्योऽद्भ्य उदेमि इत्=निर्गच्छाम्येवेत्याह ॥

क्षौमं वस्ते । हे क्षौम ! वस्त्र ! त्वम्—

दीक्षातपसोस्तनूरसि, तां त्वा शिवा शग्मां
परिदधे भद्रं वर्णं पुष्यन् ॥ ७ । ४ । २ ॥

दीक्षणीयेष्टिर्दीक्षा, उपसदिष्टिस्तपः, दीक्षाभिमानिदेवतायास्तपोऽभिमानिदेवतायाश्च शरीरमिवासि, तादृशीं कल्याणीं सुखावहां त्वामहं (स्वशरीरे कल्याणीं कान्तिं सम्पादयन् धारयामीत्याह ॥

शालां पूर्वेण कुशेषु तिष्ठन् नवनीतेन शिरस आरभ्य पादान्तं शरीराभ्यङ्गं कुर्यात् । तत्राभिमन्त्रयते—हे नवनीत ! त्वं—

महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहि ।

गवां दुग्धमसि (दुग्धजन्यत्वादुपचारात्) किञ्च—कान्तिप्रदमसि (अतिस्निग्धत्वात्) अतो मह्यं कान्तिं प्रयच्छेत्याह ॥

ततस्त्रैककुदाञ्जनं लभ्यते चेत्तेनैव, तदभावे त्वन्येनाञ्जनेन अक्षिद्वयमङ्‌ग्यात् । तदञ्जनमभिमन्त्र्यते । हे अञ्जन ! त्वं—

वृत्रस्यासि कनीनकश्चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देहि ॥ ४ । ३ ॥

वृत्रासुरस्य नेत्रमध्यगतकृष्णमण्डलरूपोऽसि कनीनिकारूपत्वादेव च त्वं दृष्टिप्रदोऽसि अतो मह्यं सम्यग् दृष्टिपाटवं प्रयच्छेत्याह । ३ । १ । २ । १२ । यत्र वा इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यदक्ष्यासीद् ।

तित्तिरिरप्याह—“इन्द्रो वृत्रमहन् तस्य कनीनिका परापतत् तदेवाञ्जनमभवत्—” इति ॥

अथ सप्तभिः सप्तभिः कुशपवित्रैः पावयति--

१ चित्पतिर्मा पुनातु

२ वाक्पतिर्मा पुनातु

३ देवो मा सविता पुनातु

अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥

तस्य ते पवित्रपते पवित्रपूतस्य

यत्कामः पुने तच्छकेयम् ॥ ४ । ४ ॥

ज्ञानानां पतिर्मनोऽभिमानी देवः सूर्य्यकिरणैरच्छिद्रपवित्रेण मां यजमानं शोधयतु । हे पवित्रपते ! शुद्धपालक ! तव पवित्रेण शुद्धस्य मम यजमानस्य यदर्थसिद्धीच्छया अहमिदानीं शोधयामि, तत्र शक्तो भूयासम् तत्कर्म पारयेयमित्याह । १ । एवं वाचां पतिर्बृहस्पतिः । २ । तथा सविता नामान्तर्यामी देवः । ३ ।

अत्र "प्रजापतिर्वै चित्पतिः" इति शतपथश्रुतिः । "मनो वै चित्पतिः" इति तित्तिरिश्रुतिः तथा "असौ वा आदित्योऽच्छिद्रं पवित्रम्" इति शतपथश्रुतिः । वायुरच्छिद्रं पवित्रमित्यन्ये ॥

अत्र पावनप्रयोगे अच्छिद्रेणेत्यादि शकेयमित्यन्तशेषपूरिताः पुनात्वन्तभागास्त्रयो मन्त्रा भवन्तीति द्रष्टव्यम् ।

अथाध्वर्युर्यजमानं वाचयति--

आ वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे ।

आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे ॥ ४ । ५ ॥

हे देवाः यज्ञे प्रवर्तमाने सति वयं युष्मान् वयनीयं यज्ञफलं साकल्येन याचामहे । हे देवाः ! यज्ञसम्बन्धीनि फलानि आनेतुं वयं युष्मानाह्वयाम इत्याह ॥

अथ प्रतिमन्त्रं क्रमेण हस्तद्वयगते आदौ कनिष्ठिके ततोऽनामिके ततो मध्यमे अङ्गुली संकोचयति, ततो मुष्टी कृत्वा स्वाहेत्युक्त्वा वाग्यतोऽङ्गुष्ठौ तत्सहिते चोत्सृजति--

स्वाहा यज्ञं मनसः । १ ।

स्वाहोरोरन्तरिक्षात् । २ ।

स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम् । ३ ।

स्वाहा वातादारभे । ४ ।

स्वाहा । ५ ॥ ४ । ६ ॥

मनसा यज्ञमभिगच्छामि । १ । विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे यज्ञ आश्रितः । २ । द्यावापृथिव्योर्यज्ञ आश्रितः । ३ । वायुप्रसादाद् यज्ञं प्रवर्तयामि । ४ । एवं यज्ञःसिद्धः । ५ । इत्याह । अत्रत्य-स्वाहाशब्दः श्रुतिप्रामाण्यादनेकार्थः ॥

॥ अतः पर षडौद्ग्रभणहोममन्त्राः ॥

औद्ग्रभणानि जुहोति स्थाल्याः स्रुवेण—

आकूत्यै प्रयुजे ऽग्नये स्वाहा । १ ।
मेधायै मनसे ऽग्नये स्वाहा । २ ।
दीक्षायै तपसे ऽग्नये स्वाहा । ३ ।
सरस्वत्यै पूष्णे ऽग्नये स्वाहा । ४ ।
आपो देवी बृहतीर्विश्वशम्भुवो,
द्यावापृथिवी उरो अन्तरिक्ष
बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहा । ५ ।
विश्वो देवस्य नेतुर्मर्त्तो वुरीत सख्यम् ।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा । ६ ।

यज्ञं करिष्यामीत्येवंविधो मानसः संकल्प आकूतिः । तस्यै प्रयुङ्क्ते असौ प्रयुक् । तस्मै। संकल्पसिद्ध्यै निर्विघ्नं प्रेरयते वह्निदेवाय सुहुतमिदमस्तु । १ । श्रुतयोर्मन्त्रयोर्धारणशक्तिर्मेधा । तस्यै मनोभिमानिने वह्निदेवाय सुहुतमस्तु । २ । व्रतनियमो दीक्षा तत्सिद्ध्यै शारीरतपोभिमा-निने वह्निदेवाय सुहुतमस्तु । ३ । मन्त्रोच्चारणशक्तिः सरस्वती । तत्सिद्ध्यर्थं वागिन्द्रियपोषकाय वह्निदेवाय सुहुतमस्तु । ४ । हे द्योतमानाः ! प्रभूताः ! जगत्कल्याणकारिण्यः ! आपः । हे द्यावापृथिव्यौ ! हे विस्तीर्ण ! अन्तरिक्ष ! युष्मभ्यं बृहस्पतये च हविर्दद्मः । तदिदं सुहुतमस्तु । ५ । सर्वोऽपि मनुष्यो नायकस्येति फलप्रापकस्य सवितुर्देवस्य सखिभावमित्यानुकूल्यं वृणुते । सर्वो-ऽपि धनाय सवितारं प्रार्थयते । पोषायेति स्वप्रजापालनाय यशो वाऽन्नं वा प्रार्थयते । इत्थं-भूताय सवित्रे सुहुतमस्तु । ६ । इत्याह ॥

इत्यौद्ग्रभणमन्त्राः ॥

कृष्णाजिनयोः सन्धिमालभते । हे कृष्णाजिनगते शुक्लकृष्णरेखे युवाम्—

ऋक्सामयोः शिल्पस्थस्ते वामारभे

ते मा पातमास्य यज्ञस्योदृचः ॥

ऋगभिमानिसामाभिमानिदेवतयौः सम्बन्धिनी चातुर्य्ये भवतः । तथाविधे युवामहं स्पृशामि । तथाविधे युवाम् अस्य यज्ञस्य उत्तमाया इति चरमाया ऋचः पर्य्यन्तं मां पालयतमित्याह ॥

ऋक्सामाभिमानिन्यौ देवते देवानां यज्ञार्थं स्थिते सत्यौ केनापि निमित्तेन कृष्णमृगरूपं कृत्वा देवेभ्यः पलाय्य दूरे कुत्राप्यतिष्ठताम् । तन्मृगचर्मणि यच्छुक्लं तदृचो रूपम् यत्कृष्णं तत्साम्नो रूपम् तदुक्तं तित्तिरिणा । ६ । १ । ३ । "ऋक्सामे वै देवेभ्यो यज्ञार्थं तिष्ठमाने कृष्ण-मृगरूपं कृत्वाऽपक्राम्यातिष्ठतामेष वा ऋचो वर्णो यच्छुक्लं कृष्णाजिनमस्यै साम्नो यत् कृष्णम् ।" इति "यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्—" ॥ ३ । २ । १ । ५ ॥ इत्यादिश्रुतिरप्यत्रानु-सन्धेया ।

दक्षिणजानुमारोहति—हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

शर्मासि, शर्म्म मे यच्छ

नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः ॥४।६॥

शरणमसि । अतो मह्यं शरणं देहि । तुभ्यं नमः अस्तु । मां यजमानं मा जहीत्याह । मेखलां बध्नीते वेणिं त्रिवृतं शरणमुञ्जमिश्रामन्तरां वाससः—हे मेखले !

ऊर्गस्याङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्ज्जं मयि धेहि ।

त्वमङ्गिरसां सम्बन्धिनी अन्नरसरूपासि । ऊर्णेव च मृदुरसि । तथाविधात्वमन्नरसं मयि स्थापय इत्याह ।

अङ्गिरसः स्वर्गं लोकं गच्छन्तोऽन्नरसं व्यभजन्त । विभज्यमानेऽवशिष्टोऽन्नरसो भूमौ पतितः शणमुञ्जनामकतृणरूपेणाविर्भूतः । तस्माच्छणमुञ्जमयी मेखला । अत एव मेखलाया आङ्गिरसत्वम् इति तित्तिरिणा प्रत्यपादि ।

नीवीं कुरुते—हे मेखले त्वम्—

सोमस्य नीविरसि

सोमदेवतायाः प्रियभूता ग्रन्थिरसीत्याह ।

मूलाग्रयोरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीविरुच्यते । अदीक्षितस्य पितृदेवत्या नीविरुक्ता दीक्षितस्य तु सोमयागाय नीविः सोमेन व्यपदिश्यते ।

शिरः प्रोर्णुते—हे वस्त्र त्वम्—

विष्णोः शर्म्मासि, शर्म्म यजमानस्य

व्यापकस्य यज्ञस्य सुखहेतुर्भवसि, अतो यजमानस्य सुखं कुरु इत्याह ।

कृष्णविषाणां त्रिवलिं पंचवलिं वोत्तानां दशायां बध्नीते । तया कण्डूयनमुपस्पृशत्येनया दक्षिणस्या भ्रुव उपरि हे कृष्णविषाणे ! त्वम्—

इन्द्रस्य योनिरसि ॥

स्पष्टम् ॥

पुरा कदाचिद्यज्ञपुरुषो दक्षिणां देवीं समभवत्, तस्मात् सम्भावनादिन्द्रोऽजायत, तदानीमत्रान्यस्योत्पत्तिर्म्मा भूदिति विचार्य इन्द्रः स्वां योनिं दक्षिणाया आच्छिद्य मृगेषु न्यदधात् । निहिता सा योनिः कृष्णविषाणाभूदिति तित्तिरिश्रुतौ यज्ञो दक्षिणामभ्यधादित्याख्याने कथा श्रूयते तस्मात् कृष्णविषाणाया इन्द्रयोनित्वम् ॥

भूमौ चोल्लिखति । हे कृष्णविषाणे ! त्वम्—

सुसस्याः कृषीस्कृधि ।

यजमानानां याः कृषयः सन्ति ताः सम्पन्नधान्यवतीः कुरु इत्याह ॥

सस्यं व्रीहियवादि । तदर्थो भूम्युल्लेखः कृषिः । मुखसम्मितमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छति । तमेनमुच्छ्रयति—

उच्छ्रयस्व वनस्पत, ऊर्ध्वो मा पाह्यंहस

आस्य यज्ञस्योदृचः ॥ (४।१०)

हे वनस्पते ! वृक्षावयव दण्ड ! उन्नतो भव । ऊर्ध्वो भूत्वा पापात् मां रक्ष । यावत्पर्यन्तमस्यानुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य समाप्तिगता ऋक् स्यात्—इत्याह ॥

अथ मौनोपस्थितो यजमानो वाग्विसर्जनायेदं त्रिः पठेत्—

व्रतं कृणुत ॥

हे परिचारकाः ! दोहनादिना क्षीरं सम्पादयत इत्याह ॥ दीक्षितस्य भोजनाय यन्नियतं पयस्तद्व्रतमित्युच्यते ॥

अतः परमिदं सकृत् पठेत—

अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो वनस्पतिर्यज्ञियः— ।

अयं श्रौतोऽग्निर्वेदत्रयरूपो भवति । अयमग्निर्यज्ञ-रूपो भवति । यज्ञयोग्यो यो वनस्पतिः खदिरादिः सोऽपि यज्ञरूपो भवतीत्याह ॥

ब्रह्मशब्दो वेदत्रयाभिधायी । आधानेन निष्पन्नस्य वैदिकस्याग्नेर्वेदव्यतिरेकेणा-सम्भवदुपचाराद् ब्रह्मत्वम् । तथा यज्ञसाधनत्वादग्निवनस्पत्योरपि यज्ञत्वमुपचार्यते इति ध्येयम् ।

अथ व्रतायोपस्पर्शनं स्वासने—

दैवीं धियं मनामहे सुमृडीकामभिष्टये ।
वर्चोधां यज्ञवाहसं सुतीर्था नो असद्वशे ॥

वयमभिमुखत्वेन प्राप्तस्य यज्ञस्य सिद्ध्यर्थं देवतोद्देशेन प्रवृत्तां शोभनसुखहेतुं तेजसो धारयित्रीं, यज्ञनिर्वाह—कर्त्रीं,यज्ञानुष्ठानविषयां बुद्धिं प्रार्थयामहे । तथाविधा धीः शोभनावतरणमार्गवती सती अस्माकमधीनत्वे भवतु-इत्याह ॥

अथ व्रतयत्यमृन्मये—

ये देवा मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवस्ते ।
नोऽवन्तु, ते नः पान्तु, तेभ्यः स्वाहा ॥ ४ । ११ ॥

"वागेवाग्निः, प्राणोदानौ मित्रावरुणौ, चक्षुरादित्यः, श्रोत्रं विश्वेदेवाः "इति— (३ । २ । २ । १३) श्रुत्युक्ताश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणा नाम ये देवाः, इच्छोत्पत्तौ प्रवर्तमानत्वान्मनोजाताः, अन्यमनस्कस्य रूपादिप्रतिभासाभावाद्रूपादिग्रहणकालेऽपि मनो-युक्ताः प्रौढकर्म्माणः सन्ति । ते अस्मानवन्तु, यज्ञानुष्ठानविघ्नपरिहारेण पालयन्तु । तेभ्यः प्राणरूपेभ्यो देवेभ्य इदं क्षीरं हुतमस्तु—इत्याह ॥

नाभिमालभते—

श्वात्राः पीता भवत यूयमापो
अस्माकमन्तरुदरे सुशेवाः ॥

ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनमीवा अनागसः
स्वदन्तु देवीरमृता ऋतावृधः ॥

हे आपः! क्षीररूपा यूयं मया पीताः सत्यः क्षिप्रपरिणामा इति शीघ्रं जीर्णा भवत तथा च अस्माकम् अन्तरुदरे इति जलपाकस्थाने शोभनसुखा भवत। किञ्च प्रबलरोगराज-रहिताः सामान्यरोगनिवर्त्तिकाश्च अपराधहारिण्यो यज्ञवृद्धिहेतवश्च द्योतमानाः मरण-निवर्तिकाश्च तास्तथाविधा आपः अस्मदर्थे स्वादुत्वयुक्ताः भवन्तु इत्याह ॥ यद्वा-अमृता इत्यमरणधर्मिणो देवाः पूर्वोक्ता वागादयः प्राणास्तथाविधा अपः, आस्वादयन्तु—इत्याह ॥

अथ मूत्रं करिष्यन् शृङ्गेण लोष्टं किञ्चिदन्यत्तृणादिकं वा गृह्णाति—

इयं ते यज्ञिया तनूः ।१। अपो मुञ्चामि न प्रजाम ।
अꣳहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमाविशत ॥ २ ॥
पृथिव्यासंभव ॥ ३ ॥

हे यज्ञपुरुष। इयं पृथिवी तव यज्ञयोग्यो देशः (अतोऽस्याः मूत्रोपहतिपरिहाराय व्यवधानं कर्तुं लोष्टं तृणं वा स्वीकरोमीत्याह) यद्वा— हे पृथिवी! इयं लोष्टादिरूपा तव तनूर्यज्ञार्हा (तामाददे) इत्याह ॥ अथ मेहति —अहं मूत्ररूपा अपो मुञ्चामि, प्रजोत्पत्ति-निमित्तं रेतस्तु न मुञ्चामि अतः कारणात् हे आपः मूत्राख्याः पापहारिण्यो यूयं स्वाहाकृताः सत्यः पृथिवीं प्रविशत—इत्याह ॥

अथ गृहीतलोष्टादिकं मूत्रस्थाने क्षिपेत्। हे लोष्टादिक। त्वं पृथिव्या सह एकी-भवेत्याह ॥

अथः स्वपिति प्राङ्दक्षिणतः—

अग्ने त्वं सुजागृहि वयं सुमन्दिषीमहि ।
रक्षाणो अप्रयुच्छन् प्रबुधे नः पुनस्कृधि ॥

हे अग्ने! त्वं सुष्ठु २ निद्रारहितो। भव। वयं यजमानाः साधु स्वप्स्यामः। किञ्च—अप्रमाद्यन् अस्मान् रक्ष। तथा अस्मान् पुनः प्रबोधाय कुरु—इत्याह ॥

स्वपतोऽग्नेः प्रार्थनं रक्षसां नाशाय। तदुक्तं तित्तिरिणा—"अग्निमेवाधियं कृत्वा स्वपिति रक्षसामपहत्यै" इति।

अथ विबुद्धमस्वप्स्यन्तं वाचयति—

"पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्
पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्
वैश्वानरो अदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्"

यजमानस्य मम मनः सुप्तिकाले विलीय पुनरिदानीं शरीरे समागतम्। किञ्च स्वापकाले मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा इदानीं पुनरुत्पन्नमिवासीत्। तथा मम प्राणवायुः, जीवः, चक्षुः, श्रवणेन्द्रिये च पुनर्यथ स्थानमागच्छन्। एवं सर्वेन्द्रियेषु समागतेषु सर्वपुरुषोपकारकः केनाप्यहिंसितः शरीरपालकोऽमयग्निगर्हितात् पापात् अस्मान् पालयतु—इत्याह॥

"सर्वे ह वा एते स्वपतोऽपक्रामन्ति (३। २। २। २३) इति श्रुतेः स्वापकाले मनआदीनामपक्रमो भवति। प्रबोधकाले तेषां पुनर्यथास्थानमागमनं प्रति प्रार्थ्यते।

यदा ऽऽदीक्षितः केनापि हेतुना क्रुध्यति, व्रतविरुद्ध वा ब्रूते, तदा इमामृचं जपेत्—

त्वमग्ने व्रतपा असि देव आ—
मर्त्येष्वा त्वं यज्ञेष्वीड्यः॥

हे अग्ने! द्योतनात्मकस्त्वं मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वप्राणिषु कर्मपालको भवसि। सर्वतश्च यज्ञेषु त्वं पूजयितव्यः प्रार्थयितव्यो वा भवसि। यद्वा—देवेषु मर्त्येषुच कर्मपालको भवसीत्याह॥

देव इति प्रथमान्तं सप्तम्यन्तं वा। आ इत्यभिव्याप्त्यर्थे समुच्चयार्थे वा॥

अथ क्रतौ प्राप्तं धनं स्पृष्ट्वा पठेत्—

रास्वेयत्, सोमा भूयो भर, देवो नः
सविता वसोर्दाता वस्वदात्॥

हे सोम ! एतावत् धनं देहि । पुनरपि धनमाहर । यतो धनस्य दाता सविता–देवोऽस्मभ्यं धनं पूर्वमपि दत्तवान् इत्याह ॥

शालाद्वाराण्यपिधाय ध्रुवास्थमाज्यं जुह्वां चतुर्गृहीत्वा तत्राज्ये दर्भतृणबद्धं स्वर्णं क्षिपेत् ।

एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया
सम्भव भ्राजं गच्छ ।

हे शुक्र ! शुक्ल ! दीप्यमान ! अग्ने !–एतद्दृश्यमानमाज्यं तव शरीरम् । तथा एतदाज्ये प्रक्षिप्यमाणं हिरण्यं तव तेजः । तत्र तया आज्यरूपया तन्वा एकीभव । ततो हिरण्यगतां दीप्तिं प्राप्नुहि इत्याह ॥ यद्वा—हे शुक्र ! आज्य ! यदिदं हिरण्यं, सा एषा तव तनूर्भवति । एतत्ते तेजश्च भवति । तया हिरण्यलक्षणया तन्वा एकीभव । एकीभावेन च सोमं गच्छेत्याह ॥

"समानजन्म वै पयश्च हिरण्यं चोभयं ह्यग्निरेतसम्" इति श्रुतिः(३ । २ । ४ । ८) "सोमो वै भ्राट् इति च श्रुति– (३ । २ । ४ । ६) रत्रानुसन्धेया एतन्मन्त्रपाठेनाग्नेः सतेजस्त्वं सतनुत्वंचसम्पाद्यते । तदुक्तं तित्तिरिणा—"सतेजसमेवैनं सतनुं करोतीति" । एतदनुसारेणैवात्र प्रथमोऽर्थः ॥

अथ जुहोति—

जूरसि धृता मनसा जुष्टा विष्णवे ।
तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो
यन्त्रमशीय स्वाहा ॥

हे वाक् ! त्वं वेगयुक्तासि । मनसा नियमिता तथा । यज्ञस्य रुचिता चासि । तथाविधाया अवितथाभ्यनुज्ञायास्तव अनुज्ञायां वर्तमानोऽहं शरीरस्य नियमनं दार्ढ्यं–प्राप्नुयाम् । तदर्थमिदमाज्यं हुतमस्तु- इत्याह ॥

अथ जुह्वां बद्ध्वा स्थापितं हिरण्यमुद्धृत्य वेद्यां तृणं निदधाति—

शुक्रमसि चन्द्रमस्यमृतमसि वैश्वदेवमसि ।

हे हिरण्य ! त्वं दीप्यमानमसि । आह्लादकमसि । विनाशरहितमसि । सर्वदेवसंब न्धिचामि—इत्याह ॥

विनाशरहितत्वं चास्याग्नि संयोगेऽपि भस्मीभावाभावादभिप्रेयते । तदुक्तं याज्ञवल्क्येनापि—"अग्नौसुवर्णमक्षीणम्" इति ॥

अथ वाग्रूपाध्यारोपकल्पनया सोमक्रयणी गौः, तामभिमन्त्रयते—

चिदसि मनासि धीरसि, दक्षिणासि क्षत्रियासि, यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी । सा नः सुप्राची सुप्रतीच्येधि, मित्रस्त्वा पदि बध्नीतां, पूषाध्वनस्यात्विन्द्रायाध्यक्षाय ॥ १ ॥ अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता सगर्भ्योऽनु सखा सयूथ्यः । सा देवि देवमच्छेहीन्द्राय सोमं, रुद्रस्त्वावर्त्तयतु स्वस्ति सोमसखा पुनरेहि ॥ २ ॥

हे वाग्देवतारूपे ! सोमक्रयणि ! त्वं चित्त-मनो-बुद्धि-रूपान्तःकरणवृत्तिरसि । हे गौः ! त्वं यज्ञाङ्गभूता दक्षिणासि सोमक्रयसाधनत्वेन, क्षत्रिया चासि । यज्ञसम्बधित्वाद्द यज्ञार्हासि । अखण्डिता अदीना देवमातृरूपासि । सर्वतोमुखीचासि । सा त्व प्रथमं सोमस्यक्रेतारं प्रति सुष्ठु प्राङ्मुखीभूत्वा पश्चात सोमेन सह अस्मान् प्रत्यागन्तुं सुष्ठुप्रत्यङ्मुखी भव । किञ्च—अप्रणाशाय त्वां सूर्यो दक्षिणपादेबध्नातु तथा पूषा देशो मार्गात् त्वां रक्षतु, अथवा पूषेयं पृथिवी त्वां मार्गाद्रक्षतु यज्ञस्वामिन इन्द्रस्य प्रीत्यर्थम् । किञ्च—सोमाहरणे प्रवृत्तां त्वां त्वदीयजननी त्वदीयपिता सहोदरभ्राता स्वयूथसचारिसुहृद्गणश्चानुजानातु । हे देवि ! सोमक्रयणि ! सा त्व मिन्द्रार्थं सोमं देव प्राप्तुं गच्छ । किञ्च—सोमं गृहीत्वा स्थितां त्वां रुद्रो देवोऽस्मान् प्रति निवर्त्तयतु । तथाच तस्य पशुपते राज्ञामनुरुन्धाना त्वं सोमसहिता सती क्षेमेण भूयोऽप्यागच्छेत्याह ॥

अन्तःकरणस्य तिस्रो वृत्तयः—चित्तं मनो बुद्धिश्च । अचेतनदेहादिसंघातस्य चेतनत्वं सम्पादयन्ती, बाह्यवस्तुषु वा निर्विकल्परूपं सामान्यज्ञानं जनयन्ती वृत्तिश्चित्तम् । १ । लोके कश्चित्पदार्थमनुलक्ष्य "एवं भवतिनवा", इति संकल्पविकल्पौ कुर्वाणावृत्तिर्मनः । २ । इदमित्थं भवत्येवेति निश्चयरूपा वृत्तिर्बुद्धिः । ३ । ता एवात्र चिन्मनाधी शब्दैरुच्यन्ते ।

चित्तादिरूपत्वं चारोप्य वागात्मिका सोमक्रयणी इह स्तूयते। दक्षिणादिरूपत्वं तु विद्यमानमेव स्तूयते इति बोध्यम्।

क्षत्रियत्वमप्यस्या औपचारिकमेव। तथाहि—देवेषु क्षत्रजात्यभिमानी सोमः। "यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणि इन्द्रो वरुणः सोमो रुद्र इति" बृहदारण्यकोक्तेः (माध्य० १।२।१३। काण्व० १।४।११)॥ तेन क्षत्रेण सोमेनाभिमन्तव्यस्य सोमलता द्रव्यस्य क्रयहेतुत्वेनास्याः क्षत्रियत्वोपचार इति बोध्यम्। उभयतः शीर्षत्वंच द्वेधा—"द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये" इति यास्कोक्तेः ज्योतिष्टोमस्याद्यन्तयोः प्रायणीयोदयनीययोः शीर्षत्वं, तदपेक्षया अस्यास्तत्वमित्येकः "स यदेनया समानं सद्विपर्यासं वदतीति–(३।२।४।१६) इतिश्रुतेरुभयतो मुखत्वात्तत्वमित्यपरः। पूषेत्यादित्यः पृथिवी च। "इयं वै पृथिवी पूषा" इति श्रुतेः (३।२।४।१९) अच्छेहीत्यत्र अच्छ शब्दःप्राप्तुमित्यर्थकः। "अच्छाभेराप्तुम्" इति शाकपूणयुक्तेः।

अथोदीचीं नीयमानां तां सोमक्रयणीं गामनुगच्छन्तौ वस्वदित्यादित्यरुद्रचन्द्र रूपेण स्तुतः। हे गौः! त्वम्—

वस्वस्यदितिरस्यादित्यासि रुद्रासि चन्द्रासि।
बृहस्पतिष्ट्वा सुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचके॥

वसुरूपा देवमातृरूपा द्वादशादित्यरूपा एकादशरुद्ररूपा सोमरूपा चासि तां त्वां बृहस्पतिः शोभनेस्थाने रमयतु संयमयतु वा। वसुभिः सहितो रुद्रश्च त्वां रक्षितुं कामयतामित्याह॥

रम्णातिः सयमनकर्मा विसर्जनकर्मा वेति यास्कः (निरु० दै० १०।९)

षट्पदान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशन्ति, हिरण्य मस्मिन्निधायाभिजुहोति—

आदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देवयजने।
पृथिव्या, इडायास्पदमसि, घृतवत् स्वाहा॥

हे आज्य! अखण्डितायाः पृथिव्याः शिरोरूपे देवयागयोग्यस्थाने त्वामाक्षारयामि। किञ्च—हे स्थानविशेष! त्वं गोपदरूपमसि। तच्च पद घृतयुक्तं कर्तुं जुहोमीत्याह॥ "पृथिव्या ह्येष मूर्द्धा यद्देवयजनम्" इति तित्तिरिश्रुतिः॥

स्पर्शन पदं त्रिः परिलिखति–हे गोः पद ! त्वम्—

अस्मे रमस्व ।

अस्मासु क्रीडां कुरु इत्याह ॥

समुद्धृत्य पदं स्थाल्यामावपति । हे सोमक्रयणीपद !

अस्मे ते बन्धुः ।

वयं तव बन्धुभूताः स्म इत्याह ॥

यजमानाय पदं प्रयच्छति । हे यजमान !

त्वे रायः ।

त्वयि धनानि तिष्ठन्तु एतत्पदरूपेणेत्याह ॥

यद्वा–त्वयि पशवः सन्तु इत्याह ॥ "पशवो वै रायः" इति श्रुतिः (३।३।१।८)

यजमानः प्रतिगृह्णाति—

मे रायः ।

मयि यजमाने धनानि पदरूपेण तिष्ठन्तु इत्याह ॥ यद्वा—पशवो मयि सन्त्वित्याह ॥

अध्वर्यु रात्मानं संस्पृशति—

मा वयं रायस्पोषेण वियौष्म ।

वयमध्वर्युप्रभृतयो धनस्य पुष्ट्या वियुक्ता मा भवामेत्याह । हुत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति, नेष्टा एनां वाचयति—

तोतो रायः ।

कलत्रे धनानि पशवोवा पदरूपेण तिष्ठन्तु इत्याह ॥ यद्वा—त्वयि रायः सन्त्वित्याह ॥ तोतः शब्दोऽव्ययं कलत्रार्थो युष्मत्पर्यायो वा ॥

सोमक्रयण्या च समीक्ष्यमाणामेनां वाचयति । तत्र पत्नी सोमक्रयणीत आशिष-माशास्ते । हे सोमक्रयणि !

समख्ये देव्या धिया सं दक्षिणयोरुचक्षसा ।
मा म आयुः प्रमोषीर्मो अहं तव ।
वीरं विदेय तव देवि सं दृशि ॥

विस्तीर्णदर्शनया दक्षिणात्वयोग्यया द्योतमानया त्वया बुद्धिपूर्वकमहं समीक्षिता । सा त्वं मम आयुर्मा खण्डय । अहमपि तवायु र्न नाशयामि । किञ्च, हे देवि ! गौः ! तव संदर्शने सति वीरं पुत्रमहं लभेय—इत्याह ॥

अतः एव यजमानः पठेत्—हे अध्वर्यो !

एष ते गायत्रो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ।
एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ।
एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतात् ।
छन्दोनामानां साम्राज्यं गच्छेति मे सोमाय ब्रूतात् ॥

यदहं सोमं प्रतीत्थं ब्रवीमि "हे सोम ! तवैष पुरोदृश्यमानो भागो गायत्री सम्बन्धी, तथाऽन्यस्त्रिष्टुप्छन्दसः सबन्धी, तथान्यो जगती छन्दसः सबन्धी, तेन चान्येषा-मपि छन्दःपदवाच्यानामुष्णिगादीनामाधिपत्य—माप्नुहि । त्वां साम्राज्यलोकं प्रापयितुं क्रीणामि न त्वन्यदर्थे-इति ममाभिप्रायः" । हे अध्वर्यो ! तदेतदभिप्रायकं मे तत्तद्वचनं सोमाय देवाय त्वं कथय, यथा वार्त्ताहरः कथयति तथेत्याह ॥

यः सोमाय छन्दसामाधिपत्यं दत्वा त क्रीणाति, स स्वानामाधिपत्यं प्राप्नोति । तदुक्तं तित्तिरिणा—"यो वै सोमं राजानं साम्राज्यलोकं गमयित्वा क्रीणाति स्वानां साम्राज्यम्" इति ॥

अथ प्राङुपविश्य सोममालभते । हे सोम ! त्वम्--

आस्माकोऽसी, शुक्रस्ते ग्रह्यो,
विचितस्त्वा विचिन्वन्तु ॥

क्रयपथ मागतः सन्नस्मत्सम्बन्धी भवसि। शुक्रादयः सर्वे तव ग्रहाः सन्ति। विवेकेन चयनकर्त्तारस्त्वां विविक्तं कुर्वन्तु—सारासारविवेकं कृत्वा सारभूतं समूहयन्तु इत्याह॥

शुक्र इति शुक्रसंज्ञः। शुक्रपदमैन्द्रवायवादि ग्रहाणामुपलक्षणम्। ग्रह एव ग्रह्यः।

सोमोपनहनं द्विगुणं चतुर्गुणं वा स्तृणाति प्राग्दशमुदग्दशं वा, तस्मिन् सोमं मिमीते दशकृत्वः—

अभित्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुमर्चामि
सत्यसवं रत्नधामभिप्रियं मतिं कविम्।
ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत् सवीमनि
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपास्वः॥

द्यावापृथिव्यो रन्तरावर्तमानं मेधाविकर्माणमवितथप्रेरणं रत्नानां धारकं पोषकं दातारं वा सर्वतः प्रीतिविषयं मननयोग्यं क्रान्तदर्शनं तं सवितारं देवं सर्वतः पूजयामि। किञ्च—यस्य सवितु र्दीप्तिः केनापि मातुमशक्या सती गगनाभिमुखी गगनप्रदेशे ऊर्ध्वेऽव्योमनि अदीप्यत। स हिरण्यकरः साधु सङ्कल्पश्च स्वरादित्यः कल्पनया सोमं पर्य्यमिमीतेत्याह॥

अन्तान् संगृह्य उष्णीषेण बध्नाति—हे सोम!

प्रजाभ्यस्त्वा।

प्रजाना मुपकाराय त्वां बध्नामि। इत्याह॥

अङ्गुल्या मध्ये विवृणोति, उष्णीषेण बद्धस्य सोमदेवस्य श्वासरोधो यथा मा भूत्। तत्राभिमन्त्रयते- हे सोम!

प्रजास्त्वानु प्राणन्तु
प्रजास्त्वमनु प्राणिहि।

श्वासं कुर्वन्तं त्वामनुसृत्य सर्वाः प्रजाः श्वासं कुर्वन्तु। श्वासं कुर्वतीः प्रजा अनुसृत्य च त्वं श्वासं कुरु इत्याह॥

हिरण्यमालभ्य वाचयति । आह—हे सोम !

शुक्रंत्वा शुक्रेण क्रीणामि
चन्द्रं चन्द्रेणामृतममृतेन ।

दीप्यमान माह्लादकं स्वादिष्ठ च त्वां दीप्यमानेन आह्लादकेनाग्नि संयोगादिनापि विनाश रहितेन हिरण्येन क्रीणामि—इत्याह ॥

सोमविक्रयिणं ❋हिरण्येनाभि कम्पयति । हे सोम विक्रयिन् !

सग्मे ते गौः ।

तव गौ र्यजमाने वर्तत इत्याह ।

"यजमाने ते गौरिति श्रुतिः (३ । ३ । ३ । ७) ग्माशब्दो गोपर्य्यायवाची, गवा सह वर्तमानः सग्मः । या गौः सोममूल्यत्वेन तुभ्य दत्ता सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्यावृत्य यजमाने तिष्ठतु हिरण्य मेव तवास्तु इत्याशयः ॥

यजमाने प्रत्यर्पितं यद्गोद्रव्यं तत्पुनर्यजमानसहितं सोम विक्रयिणः पुरतो निदधाति । हे सोमविक्रयिन !

अस्मे ते चन्द्राणि ।

तुभ्यं दत्तानि यानि हिरण्यानि तान्यस्मासु प्रत्यावृत्य तिष्ठन्तु । तव गौ रेव सोम मूल्यमस्तु हिरण्यानि मा भवन्तु इत्याह ॥

अजां प्रत्यङ्मुखी मालभ्य वाचयति—

तपसस्तनूरसि प्रजापतेर्वर्णः परमेण
पशुनाक्रिय से सहस्रपोषं पुषेयम् ।

हे अजे ! त्वं पुण्यस्य देहोऽसि । हे अजे ! त्वं प्रजापतेर्देहोऽसि । यद्वा—हे अजे ! त्वं प्रजापति तयो रूपाऽसि । किञ्च-प्रजापते रूपं त्वमसि । हे सोम ! उत्तमेनाजालक्षणेनानेन

❋ यो हिरण्यमादाय सोमविक्रीणी ते । तद्धस्ते हिरण्य दत्वा दत्वा स्वीकुर्वंस्तं निराशं करोतीत्यर्थः ।

पशुना त्वं क्रीयसे। अतस्तव प्रसादात् पुत्रपश्वादिसहस्राणां पोषो यथा भवति तथा पुष्टो भूया समित्याह ॥

दिवि स्थितस्य यज्ञि यस्यानयनायाजां गृहीत्वा गायत्री जगामेति तित्तिरिणा सोमा हरणोपाख्याने उक्तत्वादजायाः पुण्यशरीरत्वम्। तथा "सावा एषा सर्वदेवत्या यदजे–" ति तित्तिरिणोक्तेः प्रजापतित्वत्सर्वदेवताप्रियत्वादजायाः प्रजापतिः शरीरत्वम्। प्रजापतितपोरूपत्वं स्वजायास्तत उत्पन्नत्वात्। तथा च श्रुतिः—३।३।३।८ "तपसो हवा एषा प्रजापतेः सम्भूता यदजा" इति। एवं प्रजापति रूपत्वमपि त्रिगुणप्रजापते स्त्रीरूपत्ववदस्याः प्रतिवर्षं त्रिवारं प्रसवनात्। तथाच श्रुतिः (३।३।३।६) "सा यत् त्रिः संवत्सरस्य जायते तेन प्रजापतेर्वर्ण इति" ॥

सव्येनाजां प्रयच्छन् दक्षिणेन सोममादत्ते। हे सोम!

मित्रो न एहि सुमित्रधः।

प्रीतियुक्तो वा रवि रूपो वा शोभनमित्रपोषकस्त्वमस्मान् प्रत्यागच्छेत्याह। क्रीत्वा वाससा बद्धस्य सोमस्य वरुणदेवताकत्वेन क्रूरत्वाच्छान्त्यर्थं मित्रत्वेन प्रार्थ्यते। तदाह तित्तिरिः "वरुण वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्रध" इत्याह शान्त्यै इति ॥

अथ दीक्षितोरौ दक्षिणे *वासः प्रत्युह्य सोमं निदधाति हे सोम!

इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणमुशन् शन्तं स्योनः स्योनम्।

त्वां कामयमाने उपवेश सुखकरे अस्य यजमानस्य दक्षिणे ऊरौ ऊरुं कामयमानः सुखभूतश्च त्वमुपविश इत्याह ॥

अभेन्द्रशब्दो यजमानपरः। "एष वा अभेन्द्रो भवति यद् यजमानः" इतिश्रुतेः (३।३।३।१०) तित्तिरिरप्याह— "देवा वै सोममक्रीणंस्तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आसादयन् स खलु वा एतर्हीन्द्रो यो यजते तस्मादेव माहेति" ॥

अथ सोमविक्रयिणमीक्षमाणो जपति। तत्र स्वानादयः सप्त धिष्ण्याधिष्ठातारः सोमरक्षका देवविशेषास्तान् प्रत्युच्यते।

---

* वस्त्रमुपरि स्थाप्य इत्यर्थः।

स्वान भ्राजाङ्घारे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानो।
एते वः सोमक्रयणास्तान् रक्षध्वं, मा वो दभन् ॥

हे स्वान! हे भ्राज! हे अङ्घारे! हे बम्भारे! हे हस्त! हे सुहस्त! हे कृशानो! सोमं क्रेतुमानीता हिरण्यादिपदार्था युष्माकमेते पुरतः स्थापिताः। तान् यूयं रक्षध्वम्। रक्षकांस्तु युष्मान् वैरिणो मा हिंसिषतेत्याह ॥

स्वानादीनां सोमरक्षकत्वं तित्तिरिणाप्युक्तम्—"स्वान भ्राजेत्याह ते चामुष्मिंल्लोके सोममरक्षन्निति" ॥

गृहीतसोमं वाचयति—

परि माग्ने दुश्चरिताद् बाधस्व आ मा सुचरिते भज ॥

हे अग्ने! पापात् मां परिबाधस्वेति परितो निवारय। शोभनचरित्रे सदाचाररूपे पुण्ये मां यजमानमाभजेति प्रवर्तय। इत्याह ॥

अथोत्तिष्ठते—

उदायुषा स्वायुषोदस्था ममृतां २॥ऽअनु ॥

उत्कृष्टेन चिरजीवनलक्षणेन आयुषा निमित्तेन, तथा यागदानादिना शोभनेनायुषा निमित्तेन अमृतान् सोमादिदेवान् अनुसृत्य अहमुत्थितवानस्मि—इत्याह ॥

शीर्ष्णि सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्द्धाय ततः शकटमभिगच्छेत्—।

प्रति पन्थामपद्महि स्वस्ति गामनेहसम्।
येन विश्वाः परि द्विषो वृणक्ति विन्दते वसु ॥

सुखेन गन्तुं योग्यं चोरादिबाधरहितमपराधाजनकं वा पन्थानं वयं प्रत्यपद्यामहि। येन पथा गच्छन् पुरुषः सर्वान् द्वेषिणश्चोरादीन् परिवर्जयति, धनं च लभते। इत्याह ॥

अस्मिन् शकटे कृष्णाजिनमास्तृणाति। हे कृष्णाजिन!

अदित्यास्त्वगसि।

अखण्डितायाः पृथिव्यास्त्वग्रूपं भवमित्याह ॥ ततस्तस्मिन् सोम मधि निदधाति हे सोम ! त्वम्—

अदित्यै सद आसीद ।

भूमेः सम्बन्धि स्थानं प्राप्नुहि—इत्याह ॥

सोममालभ्य वाचयति—तत्र वरुणःस्तूयते । क्रीतसोमस्य वरुणदेवताकत्वात् ॥

"अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत
वरिमाणं पृथिव्याः आसीदद् विश्वा भुवनानि
सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि"

श्रेष्ठोऽसौ वरुणो द्युलोकमन्तरिक्षं च स्तम्भितवान् । भूमेर्वैपुल्यंच परिमितवान्। किश्चासौ सम्राट् सर्वाणि भुवनानि व्याप्य स्थितः । इत्थं तानि द्युलोकस्तम्भनादीनि सर्वाणि वरुणदेवस्य कर्तव्यकर्माणि सन्तीत्याह ॥

सोमपर्य्याणहनेन परितत्य वाचयति ।

वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान, वाजमर्वत्सु पय उस्रियासु ।
हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ ॥

अयं वरुणो वनगतवृक्षाग्रेषु आकाशं विस्तारितवान् । तथा अश्वेषु बलम् । अथवा पुरुषेषु वीर्य्यं विस्तारितवान् । एवं गोषु क्षीरम्, हृदयेषु सङ्कल्पम्, प्रजासु जाठराग्निम्, द्युलोके सूर्य्यम् । पर्वते च सोमं स्थापितवान् इत्याह ॥

"वीर्य्यं वै वाजः पुमांसोऽर्वन्तः" इति श्रुतेरर्वन्तः पुरुषा अप्युच्यन्ते । पर्वतपाषाणसन्धिषु सोमवल्ल्या उत्पद्यमानत्वादद्रौ सोमस्थापनमुक्तम् । तदाह तित्तिरिः—"सोमम-द्रावित्याह, ग्रावाणो वा अद्रयः तेषु वा एष सोमं निदधाति" इति ॥

कृष्णाजिनं पुरस्तादासजति । हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

सूर्य्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्ष्णः कनीनकम्
यत्रैतशेभिरीयसे भ्राजमानो विपश्चिता ॥

सूर्य्यस्य नेत्रमारोह। तथा अग्नेर्नेत्रस्य तारकां चारोह। तथोच्चैस्तराम्भव, यथैताभ्यां सूर्याग्निभ्यां दृश्यसे। यत्र दर्शने त्वं विदुषा सूर्येणाग्निना वा दीप्यमानः सन् अश्वैर्गच्छसि इत्याह॥

"एष वाऽस्य खलु रक्षोहणः पन्था योऽग्नेश्च सूर्यस्य चेति तित्तिरिः॥

अनड्वाहौ युनक्ति—

उस्रावतं धूर्षाहौ युज्येथामनश्रू अवीरहणौ
ब्रह्मचोदनौ। स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छत०॥

हे उस्रौ! अनड्वाहौ! शकटधुरं वोढुं समर्थौ सोत्साहत्वादश्रु रहितौ शृङ्गादिभिर्वीराणां शिशूनां हननमकुर्वाणौ ब्राह्मणानां यज्ञं प्रति प्रेरकौ—युवामागच्छतम्। आगत्य च स्वयमेव रथे युक्तौ भवतम्॥ किञ्च क्षेमेण यजमानस्य गृहान् प्रति गच्छतम्॥ इत्याह।

अथ वाचयति—

भद्रो मेऽसि, प्रच्यवस्व भुवस्पते विश्वा
न्यभिधामानि॥ मात्वा परिपरिणो विदन्,
मात्वा परिपन्थिनो विदन्, मा त्वा वृका
अघायवो विदन्॥ श्येनोभूत्वा परापत
यजमानस्य गृहान् गच्छ तन्नौ संस्कृतम्॥

हे सोम मह्यं यजमानाय त्वं कल्याणरूपोऽसि। हे भूतानां पते! सोम! सर्वाणि स्थानानि पत्नीशालाहविर्धानप्रभृतीनि अभिलक्ष्य प्रगच्छ। तत्र प्रच्यवमानं त्वां सर्वतः सञ्चरन्तस्तस्करविशेषा मा जानन्तु। तथा यागस्य प्रतिबन्धकराः शत्रवो मा जानन्तु! तथा परस्याघं कर्तुमिच्छन्तो विकर्तनशीला आरण्यश्वानो दुर्जना वा त्वां मा जानन्तु॥ किञ्च—श्येनाख्यपक्षिरूपमास्थाय तद्वच्छीघ्रगामी वा भूत्वा उत्पत यजमानस्य गृहान् गच्छ। तत्र च यजमानगृहेषु तव मम च सर्वोपकरणसंयुक्तं स्थानमस्तीत्याह॥

शालां पूर्वेण प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयं पशुमादाय तिष्ठति, कृष्णसारङ्गं मेध्यं तदभावे लोहित सारङ्गं, तत एनमालभ्य वाचयति। तत्र सोमः सूर्यरूपेण स्तूयते।

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय
तदृतं सपर्य्यत। दूरे दृशे देव जाताय
केतवे दिवस्पुत्राय सूर्य्याय शंसत ॥

मित्रवरुणरूपेण वर्तमानाय चक्षुष्मते च अथवा मित्रवरुणपदोपलक्षितस्य सर्वजगतो द्रष्ट्रे तेजोरूपाय देवाय दूरस्थैरपि दृश्यमानाय दूरद्रष्ट्रे वा ब्रह्मोत्पन्नाय देवानुग्रहार्थं वा प्रादुर्भूताय देवानां प्रभवाय वा प्रज्ञारूपाय द्युलोकप्रियाय द्युलोकसञ्जाताय दिवः पुत्रायकाय वा सूर्य्याय नमोऽस्तु। हे ऋत्विजः! यूयं तत् सत्यमवश्यफलप्रदज्योतिष्टोमरूप-कर्म तस्मै सूर्य्यायानुतिष्ठत। यद्वा तत्सत्यं सूर्यरूपं ब्रह्म परिचरत। किञ्च सूर्यप्रीत्यर्थं स्तुतिं कुरुत इत्याह ॥

समीपेऽन उपस्थाप्योत्तम्भनेनोपस्तभ्नाति--हे काष्ठ ! त्वम्—

वरुणस्योत्तम्भनमसि। १

वस्त्रबद्धस्य सोमस्योन्नमनं भवसि नतु शकटस्येत्याह। १।

उत्तभ्यते शकटमुखाग्रमुन्नतत्वेन स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम् ॥ १ ॥

शम्ये चोद्वृहति। हे शम्ये ! युवाम्—

वरुणस्य स्कम्भसर्जनी स्थः। २

वस्त्रबद्धस्य सोमस्य रोधहेतू भवथो न त्वन्यस्येत्याह। २।

शकटयुगे बद्धयोर्बलीवर्दयोर्गलबहिर्भागे काष्ठनिर्म्मिते शम्ये स्थाप्येते। ताभ्यां वृषयोरितस्ततो गमनं निवार्यते ततस्ते स्कम्भसर्जनीशब्देनोच्येते ॥ २ ॥

औदुम्बरीमासन्दीं नाभिदघ्नामरत्निमात्राङ्गीमुतामाहरन्ति चत्वारः। एनामभि-मृशति। हे आसन्दि ! त्वम्—

वरुणस्य ऋतसदन्यसि। ३

सोमसम्बन्धिनी यज्ञनिष्पत्त्यर्थमुपवेशनस्थानभूताऽसीत्याह ॥ ३ ॥

कृष्णाजिनमस्यामास्तृणाति। हे कृष्णाजिन ! त्वम्—

वरुणस्य ऋतसदनमसि । ४

सोमस्य यज्ञार्थ मुपवेशनस्थानमसीत्याह ॥ ४ ॥

तस्मिन्सोमं निदधाति । हे सोम ! त्वम्—

वरुणस्य ऋतसदनमासीद । ५

वस्त्रबद्धस्य तव यज्ञार्थमुपवेशनस्थानभूते आसन्दीसंस्थिते कृष्णाजिने उपविशेत्याह । ५ ।

अथ वाचयति । तत्रसोमं प्रत्याह । हे सोम !

या ते धामानि हविषा यजन्ति
ता ते विश्वा परिभूरस्तु यज्ञम् ।
गयस्फानः प्रतरणः सुवीरो
ऽवीरहा प्रचरा सोम दुर्य्यान् ॥

प्रातःसवनादीनि यानि तत्र स्थानानि प्राप्य त्वदीयरसरूपेण ऋत्विजो यागं कुर्वन्ति तानि सर्वाणि तव स्थानानि भवान् परितः प्राप्तवान् भवतु, अथवा तानि स्थानानि यज्ञं परितो भवितृणि सन्तु । किञ्च हे सोम ! गृहाभिवर्द्धकः आपदुद्धारकः यज्ञपारप्रापको वा शोभनवीरप्रसादकरो वीरपरिपालकश्च त्वं गृहान् प्राप्नुहि—इत्याह ॥

अथ सोमनिर्वपणम्

अथ पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चकृत्वो निर्वपति । तत्र हविः प्रत्याह । हे हविः ! त्वम्-

१ "अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वा" ।
२ "सोमस्य तनूरसि विष्णवे त्वा" ।
३ "अतिथेरातिथ्यमसि विष्णवे त्वा" ।
४ "श्येनाय त्वा सोमभृते विष्णवे त्वा" ।
५ "अग्नये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वा" ॥

अग्ने सोमस्य च शरीरं भवसि अतिथेरातिथ्यं भवसि तथाविधं त्वां सोमराजाय निर्वपामि। एवं सोमानयनकर्त्रे श्येनाय सोमराजाय च त्वां निर्वपामि। एवमेव धनपुष्टिदायिनेऽन्यस्मै अग्नये सोमराजाय च त्वां निर्वपामीत्याह ॥

बहुयज्ञव्यापितया विष्णुपदाभिधेयस्य सोमस्यराज्ञोऽनुचरा एते पञ्च भवन्ति। गायत्रीछन्दोऽधिष्ठाताऽग्निरेकः। त्रिष्टुप्छन्दोऽधिष्ठाता सोमो द्वितीयः। जगतीछन्दोऽधिष्ठाता अतिथिस्तृतीयः। स्वर्गात्सोमाहर्त्ता श्येनरूपधारिगायत्र्यधिष्ठाता श्येनश्चतुर्थः। अनुक्तच्छन्दोऽधिष्ठाता अग्निसंज्ञ एकः पञ्चमः। तदत्र हविषा सोमराजानुचरणमग्न्यादिदेवानां तद्द्वारा तत्सम्बन्धिनां गायत्र्यादिच्छन्दसां च तृप्तिर्भवति। तदाह तित्तिरिः "यावद्भिर्वै राजानुचरैरागच्छति सर्वेभ्यो वै तेभ्य आतिथ्यं क्रियते, छन्दांसि खलु वै सोमस्य राज्ञोऽनुचराणि" इति ॥ तिथिविशेषं विनैवातिक्षुधया पीडिते विप्रेऽतिथौ समागते तत्सत्काराय क्रियमाणः पदक्षालनभोजनसंवाहनादिसंस्कार आतिथ्यमुच्यते ॥ अथ श्येनरूपेण गायत्र्याः सोमाहरणकर्तृत्वं श्रुतावाम्नातम्—"सा यद्गायत्री श्येनो भूत्वा दिवः सोममाहरत्"—इति ॥ यो हि राज्ञो धनं क्रयविक्रयादिना बहुधा पोषयित्वा राज्ञेऽर्पयति स रायस्पोषदाः इत्युच्येत ॥

॥ इति सोमनिर्वपणम् ॥

अथाग्निनयनमन्त्राः—

तत्र तावच्छकलमादाय वेद्यां करोति। हे शकल! त्वम्—

अग्नेर्जनित्रमसि ॥ १ ॥

अग्नेर्जननाधारभूतमसीत्याह ॥ १ ॥

तस्मिन् शकले कुशतरुणे करोति। हे दर्भौ? युवाम्—

वृषणौ स्थः ॥ २ ॥

यथा पुत्रजननाय स्त्रीपुरुषौ वीर्य्यस्य सेक्तारौ तद्वद्युवामप्यरण्योरग्निजननसामर्थ्यसम्पादनाय सेक्तारौ भवथः इत्याह ॥ २ ॥

ततः शकलस्थापितयोर्दर्भयोरधरारणिं निदध्यात्।

हे अधरारणे! त्वम्—

उर्वश्यसि ॥ ३ ॥

यथोर्वशी पुरुरवोनृपस्य भोगायाधस्ताच्छेते तद्वत्त्वमधोऽवस्थिताऽसीत्याह ॥ ३ ॥

तत उत्तरारण्या आज्यस्थालीं संस्पृशेत् । हे स्थालीगताज्य ! त्वम्—

आयुरसि ॥ ४ ॥

अरणिद्वयेन जनिष्यमाणस्याग्नेरायुः प्रदं भवसीत्याह ॥ ४ ॥ अधरारणे रभिमुखी-मुत्तरारणिं निदध्यात् । हे उत्तरारणे ! त्वम्

पुरूरवा असि ॥ ५ ॥

यथा पुरूरवा नृप उर्वश्यां अभिमुख उपरि वर्तते तथा त्वमपीत्याह ॥ ५ ॥

ततो मन्त्रत्रयेणारण्योर्मन्थनं कुर्यात् । हे अग्ने ! —

गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि ।
त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि ।
जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि ।

गायत्र्यादिच्छन्दोऽभिमानिना देवेनाहं त्वामरण्योर्मन्थनेनोत्पादयामीत्याह ॥

अथ मन्थनोत्थमग्निमाहवनीये प्रास्यति । हे निर्मथ्याहवनीयावुभावग्नी ! युवाम्—

भवतं नः समनसौ सचेतसावरेपसौ ।
मा यज्ञं हिंसिष्टं, मा यज्ञपतिं," जात-
वेदसौ शिवौ भवतमद्य नः ॥

मनसा सहितौ परस्परसमानचित्तयुक्तौ पापरहितौ चास्मदर्थं भवतम् । एव—मस्मत्कर्म मा विनाशयतम्, यजमानं च मा विनाशयतम् ॥ तथा हे जातवेदसौ ! अद्यानुष्ठानदिवेऽस्मदर्थं कल्याणकारिणौ भवतमित्याह ॥

अन्यविषयं मनः परिहृत्य अस्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वम् । अनुग्रहे परस्परवि-प्रतिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम् । प्रमादादस्माभिः कृतेऽपि पापे कोपाभावः पापराहित्यम् ॥

अथ स्थाल्याः स्रुवेण जुहोति ।

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्टः
ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपावा ।
स नः स्योनः सुयजा यजेह
देवेभ्यो हव्यं सदमप्रयुच्छन् स्वाहा ॥

मथ्यमानोऽग्निराहवनीयेऽग्नौ प्रविष्टः सन् हविर्भक्षयति । सोऽयमग्निर्ऋषीणां वेदविदामृत्विजां पुत्र इव भवति तैरुत्पादितत्वात्, तथा वैकल्यनिमित्तादभिशापाद्रक्षकश्च भवति

हे अग्नेः ! तथाविधस्त्वमस्मदर्थं सुखरूपः सन् शोभनयागेनास्मिन् स्थाने इन्द्रादिभ्यो देवेभ्यः सोमादिरूप हव्य सदा अप्रमाद्यन् देहि । इदमाज्यं तुभ्यं हुतमस्तु इत्याह ॥

अथ येन व्रतं प्रदीयते तस्मिन् पात्रे ध्रुवास्थमाज्यं गृह्णीयात्, द्विश्च स्थाल्याः स्रुवेण-तत्राह । हे आज्य !

आपतये त्वा परिपतये गृह्णामि—
तनूनप्त्रे शाक्वराय शक्वन ओजिष्ठाय ॥

समन्तात्पतनशीलाय सर्वव्यापिने विश्वविस्तारकात्मनः पौत्राय शक्वरस्याकाशस्यापत्याय सर्वं कर्तुं समर्थायात्यन्तबलवते च वायवे त्वां गृह्णामीत्याह ॥

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूत, आकाशाद्वायुरिति" तैत्तिरीयारण्यक-श्रुतेः (८ । १ ।) आत्मपौत्रत्वमाकाशापत्यत्वं च वायोः सुप्रतिपन्नम् ।

यद्वा- हे आज्य ! प्राणाय मनसे जाठराग्नये शक्तये शक्तिमति पुरुषे यदोजिष्ठं सारं तस्मै च त्वामत्र पात्रे स्वीकरोमि इत्याह ॥

"प्राणो वा आपतिः, प्राणमेव प्रीणाति । मनो वै परिपतिः मन एव प्रीणाति । इत्याद्यास्तित्तिरिश्रुतयः समन्तादेहं पातीत्यापतिः प्राणः । इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारोपायं चिन्तयित्वा परितः पालयतीति परिपतिर्मनः । शरीरं न पातयतीति तनूनप्ता जाठराग्निः ।

शकनशीलः शक्तिमान् पुरुषः शक्वरो भवति तस्येदं शाक्वरं सा शक्तिः। ओजो नामाष्टमो धातुः। तत्सारमोजिष्ठं, तदवष्टम्भेनैव शरीरे शक्तिरवतिष्ठते इति भाष्यम्।

अथ तानूनप्त्रमेतद्दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ। निधायावमृशन्तिऋत्विजो यजमानश्चाद्रोहस्तेभ्यः। हे तानूनप्त्रः ? आज्यं ?

अनाधृष्टमस्यनाधृष्यं देवानामोजोऽ
नभिशस्त्यभिशस्तिपा अनभिशस्तेन्य
मञ्जसा सत्यमुपगेषम्, स्विते मा धाः॥

अतिरस्कृतमतिरस्करणीयमग्न्यादीनामोजस्सारभूतमगर्हितं गर्हातोरक्षकमगर्हिते स्वर्गादौ प्रापकं च त्वमसि। अतोऽहमृत्विक् ऋजुमार्गेण मानसकौटिल्यराहतेन आज्यस्पर्शरूपं शपथमुपगच्छेयम्॥ स्वं शोभनमार्गे यज्ञकर्मणि मां स्थापय इत्याह॥

आहवनीये समिधमाधाय जपति। तत्र यजमानोऽग्निशरीरात्मशरीरयोर्व्यत्ययं करोति।

अग्ने व्रतपा स्त्वे व्रतपाः, या तव तनूरियं सा मयि,
यो मम तनूरेषा सा त्वयि, सह नौ व्रतपते व्रतान्यनु
मे दीक्षां दीक्षापतिर्म्मन्यतामनु तपस्तपस्पतिः॥

सर्वेषां व्रतानां पालक ! हे अग्ने ? त्वमस्मदीयस्यैतस्य वर्तमानव्रतस्य पालकोऽसि—तस्य तव यच्छरीरं तन्मम भवतु मदीयं चैतच्छरीरं तव भवतु। तथा सति हे व्रतपते ? आवयो रग्नियजमानयोः सहैवानुष्ठेयानि कर्म्माणि प्रवर्त्तन्ताम। किञ्च—दीक्षापतिः सोमो मम दीक्षामनुमन्यताम्। तथा उपसद्रूपस्य तपसः पतिः सोमः मदीयमुपसद्रूपं तपोऽनुमन्यतामित्याह॥

अथ यजमानषष्ठाः सोममाप्याययन्ति—

"अंशुरंशुष्टे देव सोमाप्यायतामिन्द्रायैकधन-
विदे आ तुभ्यमिन्द्रः प्यायताम् त्वमिन्द्राय
प्यायस्व। आप्याययास्मान् सखीन मन्या
मेधया, स्वस्ति ते देव सोम, सुत्यामशीय।

हे सोम देव ! तव अंशुरंशुः सर्वोऽप्यवयवः सोमरूपैक धनप्रतिगृहीत्रे इन्द्राय वर्धताम् । हे सोम ! त्वत्पानार्थमिन्द्रो वर्धताम्, इन्द्रस्य पानार्थं त्वमपि वृद्धो भव । किञ्च, हे सोम ! प्रीतिविषयानस्मानृत्विजः धनदानेनार्थधारणशक्त्या च प्रवर्धय । हे सोम देव ! स्वस्ति तेऽस्तु । तव प्रसादादहं सोमाभिषवक्रियां पारयेयम् इत्याह ॥

चिरानस्थानेन यः सोमावयवो म्लानः शुष्कश्च तदुभयमाप्याययितुमुच्यते "अंशुरंशुरिति"–तदाहतित्तिरिः–"यद्देवस्यशुष्यति यन्म्लायते । तद्देवास्यैतेनाप्यायतीति" । यदुक्तंमा तुभ्यमिति–अनेनोभयोरपि वृद्धिर्भवति । तदाह तित्तिरिः–"उभावेवेन्द्रं च सोम चाप्याययति इति" ॥

अथ सर्वेऽपि ऋत्विजः प्रस्तरे निजहस्तानुत्तानान् कृत्वा दक्षिण हस्तं वोत्तानमुपर्य्यनास्थाप्य सोमं परिचरन्ति । हे सोम !

एष्टा रायः प्रेषे भगाय
ऋत मृतवादिभ्यो नमो
द्यावा पृथिवीभ्याम् ।

धनान्यस्माकमपेक्षितानि सन्ति । दक्षिणा वा दास्यन्ते प्रेष्यमाणायैश्वर्य्याय । यद्वा—प्रकर्षेणाम्नायैश्वर्य्याय । किञ्च—ऋतवादिभ्योऽग्निहोतृभ्योऽवश्यंभाविफलोपेतं कर्म संपादय ॥ द्यावापृथिवीभ्यां नमोऽस्तु इत्याह ॥

द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृत्यास्मिन् लोके प्रतितिष्ठतीति तित्तिरि ः ॥

उपसदं जुहोति स्रुवेण—तत्र प्रथमदिने प्रथमां द्वितीये द्वितीयां तृतीये तृतीयाम्

या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचोऽपावधीत् त्वेषं वचोऽअपाव धीत्स्वाहा ।
या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा ।
उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषंवचो अपावधीत् स्वाहा ।

या ते अग्ने हरिशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा।
उग्रं वचो अपावधीत् त्वेषं वचो अपावधीत्स्वाहा ॥"

हे अग्ने ! या तव लोहमयपुरव्यापित्वेन लोहमयी रजतमयपुरव्यापित्वेन रजतमयी। हेममयपुरव्यापित्वेन हिरण्मया देवानामतिशयेनाभिमतफलवर्षिणी असुराणां विषमे देशे स्थिता तनूः अस्ति। सा तनूः छिन्धिभिन्धित्यादिकमसुरप्रोक्तं तीव्रं वचनं विनाशितवती। तथा असुरोक्तं देवाधिक्षेपरूपं प्रदीप्तं वाक्यं नाशितवती तथाविधोपकाराय तुभ्यमग्नये हविर्दत्तम् ॥ इत्याह।

तित्तिरिस्तु—"अशनायापिपासे ह वा उग्रं वचः, एनश्च वै वीरहत्यं च त्वेषं वचः" इति वदन्—असुरैः पराजिता देवा अन्नपाने अलभमानाः क्षुत्पिपासाभ्यां वयं पीडिता इति यदूचुः तदुग्रं वचः। तथा किंवा वीरहत्यादि महापातकमस्माभिः कृतमिति क्लिश्नन्तो यद्वाक्यं संतापहेतुत्वेन दीप्तमूचुः तत्त्वेषं वच इत्यभिप्रैति ॥

अत्रेयमाख्यायिका। देवैः पराजिता असुरास्तपस्तप्त्वा त्रैलोक्ये त्रीणि पुराणि चक्रुर्लोहमयीं भूमौ, राजतीमन्तरिक्षे, हैमीं दिवि। तदादेवैस्ता दग्धुमुपसदाग्निराराधितः। तत उपसद्देवतारूपोऽग्निर्यदा तासु पूर्षु प्रविश्य ता ददाह तदा तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवोऽभूवन्निति। तथा च श्रुतिः ३। ४। ४। ३। ततोऽसुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे अयस्मयीमेवास्मिन् लोके रजतामन्तरिक्षे हरिणीं दिवीत्यादि ॥

इत्यग्निनयनम्।

अथोत्तरवेदिमंत्राः।

उत्तरवेदिनिचयार्थं यत्र भूप्रदेशे मृदं खनति स प्रदेशश्चात्वाल उच्यते। तत्रोत्करात् पूर्वस्यां संचरपरिहारेणोदगग्रां शम्यां निधाय तत्प्रमाणां तत्पूर्वपार्श्वे स्फ्येन रेखां कुर्यात्। तथा तत्पूर्वपार्श्वे तथैव शम्यां निधाय रेखां कुर्यात्। अभ्यन्तरे एवं दक्षिणोत्तरयोरपि प्रागग्रां शम्यां निधाय रेखाद्वयं कुर्यात्। तत्र प्रतिमन्त्रं परिलिखति—हे पृथिवि !

तप्तायनी मेऽसि। १। वित्तायनी मेऽसि।२।
अवतान्मा नाथितात्। ३। अवतान्मा व्यथितात्। ४।

त्वं ममानुग्रहार्थं संतप्तपुरुषं तापोपशान्त्यै गच्छसि। यो हि दरिद्रः क्षेत्ररहितोऽहमिति संतप्यते। यद्वा–तप्तः सन्नरो यस्यामयति सा त्वमसि।१। तथा सस्य निष्पत्तिद्वारा धनवृद्ध्यर्थं निर्धनं पुरुषं गच्छसि। यद्वा धनार्थं नरो यस्यामेति सा त्वमसि।२। हे पृथिवि! यथाहं कमपि न याचे तथा मां रक्ष।३। एवं भयाच्चलनात् स्थानभ्रंशाच्च मां रक्षेत्याह।४।

चात्वाले स्फ्येन मृदं खनति—हे मृत्तिके!

विदेदग्निर्नभोनाम।

नभः संज्ञस्त्वदधिष्ठाताग्निर्मया खन्यमानां त्वां जानीयात्। इत्याह। स वा अग्नीनामेव नामानि गृह्णन् हरतीति श्रुतेः (३।५।१।३१।।) अग्निनामोच्चारण पूर्वकमेव खनेत्॥

अथ पुरीषं प्रहरति। खाता मृत् पुरीषमित्युच्यते—

अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्ने हि।

हे अग्ने! हे अङ्गिरः! त्वमायुना नाम्नाऽभिहितः सन्नागच्छेत्याह।

उत्तरवेदि स्थाने मृदं निवपति पूर्वार्द्धे शङ्कुसहितम्। हे अग्ने!

योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वा दधे।१।

यस्त्वमस्यां भूमौ वर्तसे। यच्च तव केनापि याज्ञिकेनातिरस्कृतं यज्ञयोग्यमग्निरिति प्रसिद्ध नामास्ति। तेन नाम्ना त्वां स्थापयामीत्याह।

अथ यथापूर्वैस्त्रिभिर्मन्त्रैः खात्वा हृत्वा मृत्प्रक्षिप्ता वेद्यर्थमेतत्त्रितयं पुनरपि द्विः कुर्यात्। द्वितीयस्यास्तृतीयस्याश्च पृथिव्या अनुरोधेन—तत्र द्वितीया पृथिवी अन्तरिक्षं तृतीया पृथिवी द्यौ रित्यवधेयम्—

विदेदग्निर्नभो नाम॥
अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि।
यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि। यत्तेनाऽधृष्टं नाम
यज्ञियं तेन त्वा दधे।२।

विदेदग्निर्नभो नाम ।
अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहि ।
यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि । यत्तेऽनाधृष्टं नाम
यज्ञियं तेन त्वा दधे ॥ ३ ॥

अथैतत्पर्यायत्रयानुसारेणैव चतुर्थमपि प्रक्षेपणपर्यन्तं मृदाहरणं कुर्यात् । हे मृत्तिके !

अनु त्वा देववीतये ॥ ४ ॥

देवानां प्रीतये पूर्वकृतमाहरणत्रयमनुसृत्य त्वामाहरामीत्याह । ४ ।

उत्तरवेदि शम्यामात्रीं * व्यूहति, प्रोक्षति, सिकताश्च प्रकिरति मन्त्र भेदेन । हे उत्तरवेदे !

सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः कल्पस्व । १ ।
सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुन्धश्च । २ ।
सिंह्यसि सपत्नसाही देवेभ्यः शुम्भस्व । ३ ।

त्वं सिंहसमाना भूत्वा शत्रूणामभिभवित्री भवसि । अतोदेवोपकारार्थमुत्तरवेदिरूपेण क्लृप्ता भव । १ । शुद्धा भव । २ । सिकता प्रक्षेपेण च शोभिता भवेत्याह ।

वाक् पूर्वमसुरेभ्यः क्रुद्धा सिंही भूत्वा चचारेति श्रूयते (३ । ५ । १ । ३२ ।) सेह वेदि मन्त्रे पूच्यते ।

अथ वेअन्तरे स्थित्वोदङ्ङुत्तरवेदिं प्रोक्षति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गम् । हे उत्तरवेदे !—

इन्द्रघोषस्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पातु । १ ।
प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात् पातु । २ ।
मनोजवास्त्वा पितृभि र्दक्षिणतः पातु । ३ ।
विश्वकर्मा त्वा ऽऽदित्यै रुत्तरतः पातु । ४ ।

---

* व्यूहनं पांसुभिर्विशिष्य समीकरणम् ।

इन्द्र इति शब्देन विस्पष्टं कथ्यते यो देवः स वसुभिर्गणदेवैः पूर्वस्यां दिशि रक्षतु। १। प्रकृष्टप्रज्ञो वरुणो रुद्रैर्गणदेवैः पश्चिमायां दिशि रक्षतु। २। मनोवद्वेगयुक्तो यमः पितृभिः स्वर्लोकवासिदेवविशेषैर्दक्षिणस्यां दिशि रक्षतु। ३। विश्वानि कर्माणि जगदुत्पत्त्यादीनि यस्य सोऽयं देवः आदित्यैर्गणदेवैरुत्तरस्यां दिशि रक्षतु। ४।

एकदा असुरा देवान् हन्तुमागताः तदा देवसेनाधिपतयः इन्द्रघोषादयश्चतसृषु दिक्षु तानसुरानपाकुर्वन्निति-तित्तिरिराह। तस्मादेतैर्मन्त्रैर्दिक्चतुष्टये रक्षा प्रार्थनीया॥

प्रोक्षणशेषं बहिर्वेदि निषिञ्चति—

इदमहं तप्तं वार बहिर्धा यज्ञान्निःसृजामि॥

असुर निवारणाय येनोदकेन प्रोक्षितं तदुग्ररूपत्वात्तप्तमित्युच्यते। तदिदं तप्तं जलं प्रोक्षणशेषभूतं यज्ञप्रदेशाद्बाह्यप्रदेशेऽहं निःक्षिपामि—इत्याह॥

अथ योऽयमुत्तरवेदेर्नाभ्याख्यो मध्यदेशस्तस्य ❀ श्रोण्यंसेषु मध्ये च हिरण्यं निधाय तदवलोकयन् जुह्वां पञ्चवारं गृहीतेनाज्येन कोणसूत्रप्रदेशेन जुहुयात्। तत्र प्रथमं दक्षिणेंऽसे १, तत उत्तर श्रोणौ २, ततो दक्षिण श्रोणौ ३, तत उत्तरांसे ४ ततो मध्ये ५ इति क्रमः। क्रमेण मन्त्राः- हे उत्तरवेदे!

सिंह्यसि स्वाहा। १।
सिंह्यस्यादित्यवनिः स्वाहा। २।
सिंह्यसि ब्रह्मवनिः क्षत्रवनिः स्वाहा। ३।
सिंह्यसि सुप्रजावनी रायस्पोषवनिः स्वाहा। ४।
सिंह्यस्यावह देवान् यजमानाय स्वाहा। ५।

त्वं सिंहरूपा भवसि तादृश्यै तुभ्यं हविर्दत्तम्। तथा आदित्यानां प्रीणयित्री, ब्राह्मण क्षत्रियजात्योः प्रीणयित्री, पुत्रपौत्रादिरूपायाः शोभनप्रजायाः संपादयित्री, सुवर्ण-रजतादि धनपुष्टेः संपादयित्री, त्वमसि। सा त्वं यजमानोपकारार्थं देवान् आनयेत्याह॥

❀ आग्नेयैशकोणावंसौ। वायव्यनैर्ऋतकोणौ श्रोणी।

पुरा कदाचिदुत्तरवेदि देवता केनापि निमित्तेन देवेभ्योऽपक्रम्य असुरानप्राप्य उभयोर्देवासुरसेनयोर्मध्ये सिंहरूपं धृत्वा तस्थौ। तदुक्तं तित्तिरिणा—

"तेभ्योऽपक्रम्योत्तरवेदिः सिंही रूपं कृत्वोभयानन्तरा तिष्ठदिति ॥"

स्रुचमुद्यच्छति। हे होमविशेषाज्ययुक्ते जुहूः!

भूतेभ्यस्त्वा।

जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतग्रामप्रीत्यर्थं त्वामुद्यच्छामीत्याह "भूतेभ्यस्त्वेति स्रुचमुद्गृह्णाति, य एव देवा भूतास्तेषां तद्भागधेय भवति तानेव तेन प्रीणाति" इति तित्तिरिः॥

अथ पैतुदारवैः परिधिभिरुत्तरवेदेर्मध्यदेशरूपां नाभिं दर्शपौर्णमासेष्टिवत् पश्चिम दक्षिणोत्तरेषु परिदध्यात्-हे मध्यम परिधे!

ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृंह। १।

हे दक्षिणपरिधे!

ध्रुवक्षिदस्यन्तरिक्षं दृंह। २।

हे उत्तरपरिधे!

अच्युतक्षिदसि दिवं दृंह। ३।

अथ निवपति गुग्गुलु-सुगन्धितेजन, वृष्णेस्तुकाश्चोपरि शीर्षण्याः अभावेऽन्याः। तत्र गुग्गुलुर्धूपद्रव्यं, सुगन्धितेजनं तृणविशेषः। वृष्णेस्तुका अविरोमाणि। हे गुग्गुलु—प्रभृतिसम्भारसमूह! त्वम्—

अग्नेः पुरीषमसि।

अग्निपूरकमसीत्याह॥ "अग्नेर्ह्येतत् पुरीषं यत्संभाराः"- इति तित्तिरिः॥

इत्युत्तर वेदि मंत्राः।

अथ हविर्धान मन्त्राः



अस्ति तावत् प्राचीनवंशा शाला। तस्यामाहवनीयाद्यग्नित्रयमैष्टिकवेदिश्चास्ति। तस्याः शालायाः पुरतः षट्त्रिंशत्पददीर्घा सौमिकी वेदिर्विधेया। तद्वेद्या अग्रभागे पूर्वोक्तोत्तरवेदिः। ततः पश्चान्मध्यभागे हविर्धानाख्यो मण्डपो विधेयः। ततोऽपि पश्चात् सदोऽभिधाना उदग्वंशा शाला निर्मातव्या। तस्याः स्थाने प्राचीनशालायाः पुरतो दक्षिणोत्तरभागयोर्हविर्धानसञ्ज्ञके द्वे शकटे स्थापिते स्थः। तच्छकटद्वयं पुरतः प्रवर्त्य तदावरकत्वेन हविर्धानाख्यमण्डपो विधेयः। तच्छकटद्वयं सावित्रहोमादूर्ध्वं प्रवर्तनीयम्। तं च होमं, प्राचीनशालाया द्वारसमीपे पूर्वसिद्ध आहवनीयो यो वर्तते स पूर्वमाहवनीयोऽपि सन् उत्तरवेद्याख्येऽन्यस्मिन्नाहवनीये निष्पन्ने सति तदपेक्षया स्वयं गार्हपत्यो भवतीति तत्र कुर्य्यादनया सावित्र्यर्चा—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्
मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः स्वाहा॥

महतोऽभिज्ञस्य च ब्राह्मणस्य यजमानस्य सम्बन्धिनो ब्राह्मणा ऋत्विजो होम—कर्तारो लौकिकचिन्ताभ्यो मनो निवार्य्य यज्ञचिन्तायां नियमयन्ति। तदिदं विप्राणां मनोनियमनादिसामर्थ्यमेक एव सर्वधीसाक्षी ससर्ज। यतस्तस्य प्रेरकस्यान्तर्यामिणो देवस्य सर्वदोक्ता स्तुतिर्महती अस्ति। इत्याह॥

दक्षिणशकटसंबन्धिदक्षिणचक्रमार्गे हिरण्यं निधाय तत्राभिजुहोति—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे-स्वाहा— १।५।१५

विष्णुस्त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विभज्य क्रमते स्म। तथाहि-भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं पदं दिवि तृतीयं पदमिति क्रमादग्निवायुसूर्य्यरूपेण त्रेधा पदं निदधे।

अस्य विष्णोः पदे भूम्यादिलोकात्मकपांसुवति सम्यगन्तर्भूतं विश्वमिदम् । तस्मै विष्णवे हविर्दत्त मित्याह ॥

अथोत्तरशकटसम्बन्ध्युत्तरचक्रमार्गे प्रति प्रस्थाता स्रुकस्थाल्यौ प्रतिगृह्य जुहुयात् ।

इरावती धेनुमती हि भूतं ।

सूयवसिनी मनवे दशस्या ॥

व्यस्कभ्ना रोदसी विष्णवे ते ।

दाधर्थ पृथिवीमभितो मयूखैः—स्वाहा २ । ५ । १६

हे रोदसी ! द्यावापृथिव्यौ ! युवाम् अन्नवत्यौ बहुधेनुयुक्ते शोभनाभ्यवहार्य्य—वस्तुमती ज्ञानवते यजमानाय दशस्याविति यज्ञसाधनानां दात्र्यौ भवतं हि । हे विष्णो ! एते रोदसी त्वं विभज्य स्तम्भितवानसि किञ्च—स्वतेजोरूपैर्नानाजीवैः पृथिवीं सर्वतो धारित—वानसि । तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम्—इत्याह ॥

अथ दक्षिणया द्वारा प्रतिप्रस्थात्रा समानीता पत्नी होमशेषेणाज्येनाक्षस्योभावग्र—भागौ—अञ्ज्यात्—

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतम् ।

देवेषु प्रसिद्धौ हे अक्षधुरौ ! यजमानोऽयं यक्ष्यतीति वृत्तं देवेषु उच्चध्वनिना कथयतम् ॥

हविर्धानाख्ये यदा प्रवर्तेते तदा यजमानं वाचयेत्—

प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती,

ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं, मा जिह्वरतम् ॥

हे उभे शकटे ! प्रस्तुतमध्वरकर्म्म समर्थं कुर्वाणे युवां प्राङ्मुखे प्रकर्षेण गच्छतम् किञ्च—यज्ञमिममुपरिवर्त्तिदेवान् प्रति प्रापयतम्, मा कुटिले भवतम इत्याह ॥

अथप्रवर्त्यमानयोः शकटयोरक्षे ध्वनिं कुर्वति सति यजमानं वाचयेत्—

स्वं गोष्ठमावदतं. देवी दुर्य्ये आयुर्मा ।
निर्वादिष्टं, प्रजां मा निर्वादिष्टम् ॥

हे देवी दुर्य्ये ! गृहसदृशशकटद्वयरूपे देवते ? स्वकीयं गोस्थानं सर्वतः कथयतम् । किञ्च—यजमानस्य यावदायुरस्ति तावत्सर्वं मा निराकार्ष्टम् । यजमानस्य प्रजां पुत्रादिरूपां मा निराकार्ष्टमित्याह ॥

"वरुणो वा एष दुर्वागुभयतो बद्धो यदक्षः" इति श्रुतेः ३ । ५ । ३ १८ । उभयबद्धाक्षशब्दस्य दुष्टत्वात्तादृशशापरूपदुर्वाक्यपरिहारायाशीर्वादरूपं सुवाक्यमनेन मन्त्रेण प्रार्थ्यते ॥

अथ पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेषु मत्या वा नभ्यस्थे उभे शकटेऽभिमन्त्रयते—हे शकटे !

अत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः ५ । १७

भूमेः शरीरे अस्मिन् देवयजने युवां क्रीडतम् । इत्याह ।

"वर्ष्म ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनम्" इति—तित्तिरिः ॥

उत्तरेण परिक्रम्य दक्षिणशकटस्याग्रं वोढुं आधारभूतं काष्ठ स्थापयति—

विष्णोर्नुकं वीर्य्याणि प्रवोचं यः,
पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभा यदुत्तरं सधस्थं,
विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोरेव कर्म्माण्यहं प्रब्रवीमि । यो विष्णुः पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकस्थानानि निर्ममे । यद्वा—यः पार्थिवपरमाणून् परिगणितवान् । यश्च विष्णुः उपरितनं देवानां सहवासस्थानं द्युलोकरूपं यथाधो न पतति तथा स्तम्भितवान् । यश्च त्रिषु लोकेषु अग्नि-वायुसूर्य्यरूपेण पदत्रयं निदधानः । तथा बहुगतिर्बहुभिर्गीयमानो वा, इत्याह ॥

दक्षिणतः स्थूणामुपनिहन्ति—हे स्थूणे ! काष्ठ !

विष्णवे त्वा १ । ५ । १८

हविर्धानशकटाभिमानिविष्णुप्रीत्यर्थं त्वां निखनामि इत्याह ॥ अथ यथाध्वर्यु-र्दक्षिणशकटमुपष्टभ्य स्थूणां निखातवान् एवं प्रतिप्रस्थाता उत्तरशकटे कुर्य्यात्—

दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या-
महो वा विष्ण उरोरन्तरिक्षात्
उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वा
प्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात् ॥ २ ॥
विष्णवे त्वा ॥ २ ॥ ५ । १९

हे विष्णो ! द्युलोकात्-अपि च भूलोकात् वा महतो विस्तीर्णादन्तरिक्षलोकात् समानीतेन द्रव्येण उभावपि स्वकीयौ हस्तौ पूरयस्व । ततो धनपूर्णाद्दक्षिणात् तथा वामाद्धस्ताद् बहुकृत्वः देहीत्याह ॥ २ ॥ हे स्थूणे ! विष्णवे त्वां निहन्मीत्याह ॥ २ ॥

मध्यमं छदिरालभ्य वाचयति—

प्र तद् विष्णुः स्तवते वीर्य्येण,
मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति,
भुवनानि विश्वा ॥ १ ॥ ५ । २०

पर्वतस्थितः प्राणिवधादिकुत्सितचारी भयङ्करः सिंह इव स विष्णुरसाधारणवीर्य्य-कर्म्मणा प्रस्तूयते यस्य विष्णोः प्रभूतेषु त्रिषु विक्रमणेषु पादप्रक्षेपणस्थानेषु सर्वाणि भूत-जातानि अधिनिवसन्ति । इत्याह ॥

हविर्धानाख्ये द्वे शकटे दक्षिणोत्तरभागयोः स्थापयित्वा तदावरकत्वेन परितो हवि-र्धानाख्ये मण्डपं कुर्य्यात् । स च मण्डपो विष्णुदेवताकत्वाद्विष्णुरित्युपचर्य्यते । विष्णोश्च मूर्त्तिधरस्य सर्वावयवसद्भावाल्ललाटाख्योऽवयवोऽस्ति । तद्वद्धविर्धानमण्डपस्यापि पूर्वं द्वार-

वर्त्तिस्तम्भयोर्मध्ये काचिद्दर्भमाला ग्रथ्यते । तां मालां तद्बन्धनाधारतिर्य्यग्वंशं वा संबोध्य पुरुषललाटत्वेनोपचर्य्यते । हे दर्भमयमालाधार वंश ? त्वम्—

विष्णो रराटमसि । १ ।

विष्णु मूर्तित्वेनोपचरितस्य हविर्धानमण्डपस्य ललाटस्थानीयोऽसि—इत्याह ।

उच्छ्राय्यौ रराटी प्रान्तावुपस्पृश्य वाचयेत् । ६ ।

विष्णोः श्नप्त्रे स्थः । २ ।

हे रराट्यन्तौ ! युवां विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य ओष्ठसन्धिरूपे भवथ—इत्याह ॥

बृहत्सूचि समर्पितया रज्ज्वा द्वारशाखा सीव्यति हे—लसूजनि ? त्वम्—

विष्णोः स्यूरसि । ३ ।

हविर्धानस्य सूचिरसीत्याह ॥ ३ ॥

ग्रन्थिं करोति । हे रज्जुग्रन्थे ? त्वम्—

विष्णोर्ध्रुवोऽसि । ४ ।

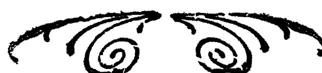
हविर्धानस्य ग्रन्थिर्भवसीत्याह ॥ ४ ॥

प्राग्वंशं हविर्धानमण्डपं निर्मायालभते हे हविर्धान ? त्वम्—

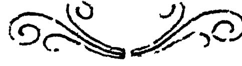
वैष्णवमसि । ५ । विष्णवे त्वा । ६ । ५ । २१ ।

विष्णुदेवताकत्वेन तत्सम्बन्धि भवसि । तस्माद्विष्णुप्रीत्यर्थं त्वां स्पृशामीत्याह ॥ ६ ॥

इति हविर्धानमन्त्राः ॥



(इत उत्तरमुपरव मन्त्राः)



अथ यथा यूपस्यावटः क्रियते तथाऽत्रापि दक्षिणस्यानसोऽधःप्रउगं खनति, उपरवनामकांश्चतुरो गर्तान् करोति। तत्र तावदवटखननार्थं खननसाधनं काष्ठनिर्मितमभ्रिनामाददानो जपति। हे अभ्रे!

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहूभ्यां
पूष्णोहस्ताभ्यां आददे नार्य्यसि। १।

त्वं खननसाधनत्वेन कर्म्मोपयोगित्वादनुष्ठातॄणां नराणां सम्बन्धिनी भवसि। ततः सवितुर्देवस्यानुज्ञायां वर्तमानोऽहमश्विनोः पूष्ण चहस्तद्वारा त्वां गृह्णामीत्याह ॥ १ ॥

यूपावटं परिलिखन्नाह। यदहं चतुरोऽवटान परिलिखामि तत्—

इद महं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि। २।

अनेन परिलेखनेन यज्ञघ्नानां कण्ठप्रदेशान छिनद्मीत्याह ॥ २ ॥

इत्थमाग्नेयीं विदिशमारभ्य चतसृषु विदिक्षु चतुर उपरवान् खातुं भूमिः परिलिखिता। अथ तेनैवक्रमेणावटान् खनति हे उपरवाख्य! गर्त! त्वम्—

बृहन्नसि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद ५। २३
रक्षोहणं बलगहनं वैष्णवीम् ॥ ३ ॥

प्रादेशपरिमाणेन विस्तृतत्वाद्वाहुपरिमाणेन खातत्वाच्च महान् भवसि। तथा खातुं भूमौ प्रहारे महान् ध्वनिर्भवतीति महाशब्दोऽसि। तस्मात्त्वमिन्द्रप्रीत्यर्थं प्रौढां रक्षोवधविषयां वलगनिहन्त्रीं यज्ञसम्बन्धिनीम् वाचं वदेत्याह ॥ ३ ॥

पराजितैरसुरैरिन्द्रादिवधार्थमभिचाररूपेण भूमौ निखाता अस्थिकेशनखादिपदार्थाः कृत्याविशेषा वलगाः। ते च बाहुमात्रे खाता इत्यतस्तदुद्धारार्थमुपरवस्य तावन्मात्रं खननम्।

तदाह—तित्तिरिः—"असुरा वै निर्य्यन्तो देवानां प्राणेषु वलगान् न्यखनन्, तान् बाहुमात्रे त्वविन्दन् तस्माद्बाहुमात्राः खायन्ते" इति ॥ तान् बाहुमात्रान् खनेदिति श्रुतिः (३ । ५ । ४ । ६) ॥

अथ येन क्रमेण चत्वारो गर्त्ताः खाताः तेन क्रमेण चतुर्भ्यो गर्तेभ्यः खातं मृत्तृणादिकं चतुर्भिर्मन्त्रैरुत्किरति पञ्चमेन तु साधारणेन मन्त्रेण सर्वेभ्य उत्किरति—

इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे निष्ट्यो यममात्यो निचखान ॥ १ ॥
इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे समानो यमसमानो निचखान ॥ २ ॥
इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे सबन्धुर्य्यमसबन्धुर्निचखान ॥ ३ ॥
इदमहं तं वलगमुत्किरामि ।
यं मे सजातो यमसजातो निचखान ॥ ४ ॥
उत्कृत्यां किरामि ॥ ५ ॥ ५ । २३

नितरां संघातचारी दस्युर्वा पुत्रादिर्वा चाण्डालादिर्वा निष्ट्यः, धनगृहादिनिर्वाहकोऽमात्यः । धनकुलादिभिः सदृशः समानः । कुलशीलादिभिः समानो मातुलपैतृष्वसेयादिः सबन्धुः । समानजन्मा भ्राता सजातः तेष्वेतेषु य एव कश्चित्कुपितो मदनिष्टार्थं यं वलगं निखातवान् तमहमिदमुद्वपामि ॥ ४ ॥ येयं कृत्या शत्रुभिरभिचरद्भिः प्रयुक्ता तां वलगरूपामुद्धृत्य दूरे क्षिपामीत्याह ॥ ५ ॥

खननक्रमेण चतुर्षु गर्त्तेषु यजमानहस्तस्पर्शं चतुर्भिर्मन्त्रैः कारयेत् ।

स्वराडसि सपत्नहा । १ ।

सत्रराडस्यभिमातिहा । २ ।
जनराडसि रक्षोहा । ३ ।
सर्वराडस्यमित्रहा । ४ । ५ । २४

हे प्रथमगर्त्त ! स्वयमेव राजमानो भवसि । अतः शत्रुघाती भव । १ । हे द्वितीयगर्त्त ! सत्रेषु द्वादशाहादिषु राजसे स त्वं शत्रुघाती भव । २ ॥ हे तृतीयगर्त्त ! यजमानेषु राजसे स त्वं यज्ञविनाशकराक्षसघाती भव । ३ । हे चतुर्थगर्त्त ! सर्वेषु राजसे स त्वं शत्रुघाती भवेत्याह । ४ ।

चतुरो गर्त्तान् प्रतिगर्त्तोच्चरितमन्त्रेण प्रोक्षति हे गर्त्ताः !

रक्षोहणो वो वलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवान् । १ ।

राक्षसहन्तॄन् अभिचारसाधनहन्तॄंश्च विष्णुदेवताकान् युष्मान् प्रोक्षामीत्याह । १ ।

अवनयति । गर्त्तेषु प्रोक्षणशेषोदकसेचनमवनयनम् हे गर्त्ताः !

रक्षोहणो वो वलगहनोऽवनयामि वैष्णवान् । २ ।

अवस्तृणाति । गर्त्तेषु दर्भैराच्छादनं संस्तरणम् । हे गर्त्ताः !

रक्षोहणो वो वलगहनोऽवस्तृणामि वैष्णवान् । ३ ।

ययोः फलकयोरुपरि सोमोऽभिषूयते ते द्वे अधिषवणफलके उच्येते । तन्नुपरि कुशान् कृत्वा द्व्यङ्गुलान्तरिते प्रक्षालिते प्राची अरत्निप्रमाणे संतृणे ईषद्बन्धनोपेते । ते द्वे फलके चतुर्णां गर्तानामुपरि स्थापयति । हे अधिषवण फलके !

रक्षोहणौ वां वलगहना उपदधामि वैष्णवी । ४ ।

अथ तयोः परितो मृदा छिद्रपिधानं च करोति । हे अधिषवणफलके !

रक्षोहणौ वां वलगहनौ पर्य्यूहामि वैष्णवी । ५ ।

तयोः फलकयोरुपरि सोमाधिषवणं परिकृत्त अग्रभागेछिन्न सर्वलोहितं निदधाति। हे चर्म्म ! त्वम्—

वैष्णवमसि । ६ ।

अथ तस्मिंश्चर्म्मणि सोमाभिषवहेतून् पञ्च पाषाणान् स्थापयति । हे ग्रावाणः ! यूयम्—

वैष्णवाः स्थः । ७ । ५ । २५

यज्ञरक्षकविष्णुसम्बन्धिनो भवथेत्याह ॥ ७ ॥

इत्युपरवमन्त्राः प्रकृताः ॥

इत उत्तरमौदुम्बरी मन्त्राः ॥

औदुम्बरीं शाखां यजमानदेहमितां सदोमण्डपमध्ये निखनेत् । सा च शाखा निखननात्पूर्वं यूपवद्भूमौ शेते । तत्र यूपावटवदभ्र्यादि अवस्तरणान्तं सर्वं कार्यम् । तथाहि-अभ्रिमादत्ते । हे अभ्रे !

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे, अश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्याम्, आददे नार्य्यसि ॥ १ ॥

परिलिखति ।

इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि ॥ २ ॥

अप्सु यवानोप्येति । हे धान्यविशेष ! त्वम्—

यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीः ॥ ३ ॥

यतस्त्वं यवनामासि । अतः शत्रून् दौर्भाग्यं वा अदानानि चास्मत्तः पृथक्कुरु । इत्याह ॥ ३ ॥

अथ प्रतिमन्त्रमग्रमध्यमूलानि प्रोक्षति । हे औदुम्बर्य्यग्रभाग !

१ दिवे त्वा ॥ ४ ॥

द्युलोकप्रीत्यर्थं त्वां प्रोक्षामीत्याह ॥ ४ ॥

हे औदुम्बरी मध्यभाग !

२ अन्तरिक्षाय त्वा ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षलोकप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामीत्याह ॥ ५ ॥

हे औदुम्बरी मूलभाग !

३ पृथिव्यै त्वा ॥ ६ ॥

पृथिवीप्रीत्यै त्वां प्रोक्षामीत्याह ॥ ६ ॥

अवटे शेषमासिञ्चति ।

शुन्धन्तां लोकाः पितृषदनाः ॥ ७ ॥

येषु पितरः सीदन्ति ते लोका अनेनोदकसेचनेन शुद्धा भवन्तुइत्याह ॥ ७ ॥

"क्रूरमिव वा एतत्करोति यत् खनति यत्पयोऽवनयति शान्त्यै तद्" इति तित्तिरिः ॥

तस्मिन्नवटे प्रागग्रानुदगग्रांश्च दर्भानास्तृणाति । हे बर्हिः ! त्वम्—

पितृषदनमसि ॥ ८ ॥ ५ । २६

पितणामुपवेशनस्थानमसीत्याह ॥ ८ ॥

उच्छ्रयति । हे औदुम्बरि ! त्वम्—

उद् दिवं स्तभानान्तरिक्षं पृण दृंहस्व पृथिव्याम्।

द्युलोकमुत्तम्भय, अन्तरिक्षं पूरय, पृथिव्यां दृढा भवेत्याह ॥

शाखां गर्ते मिनोति । हे औदुम्बरि ?—

द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणा ।

दीप्यमानो वायुः स्थिरेण धारणेन त्वां गर्ते प्रक्षिपतु । मित्रावरुणौ चेत्याह ॥

पांसुभिः पर्य्यूहति यूपवत् । हे औदुम्बरि ?

ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्य्यूहामि ।

ब्राह्मणं क्षत्रियं धनपुष्टिं च सम्भजमानां त्वां परितो मृत्तिकां क्षिपामीत्याह ॥

मैत्रावरुणदण्डेन समन्तं त्रिः पर्य्यूहति हे औदुम्बरि ?

ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह प्रजां दृंह । ५ । २७

ब्राह्मणं क्षत्रियं जीवनं सन्ततिं च दृढीकुरु इत्याह ॥

औदुम्बरीमालभ्भ्यवाचयति । हे औदुम्बरि ! त्वम्—

ध्रुवासि ध्रुवोऽयं यजमानोऽस्मिन्नायतने
प्रजया पशुभिर्भूयात् ।

शाखा यत्र द्विधा भूता स प्रदेशो विशाखः । तत्र स्रुवेण जुहोति—

घृतेन द्यावापृथिवी पूर्य्येथाम् ।

हूयमानेनानेन घृतेन द्यावापृथिव्यौ पूरिते भवेतामित्याह ॥

औदुम्बरीनिखननादूर्ध्वं सदोनामकं मण्डपं निर्म्माय तस्योपरि प्रावरणाय मध्यं कटमारोपयेत् । हे तृणमय कट ? त्वम्—

इन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छाया २ । ५ । २८

इन्द्र सम्बन्धी कटो भवसि । अतस्त्वं सदो मध्यवर्त्तिनः सर्वजनस्य यजमानर्त्विगादेः प्राणिनः प्रावरणाय छाया भवेत्याह ॥

परितः कुड्यवदावरणं कुर्य्यात्—

परि त्वा गिर्वणो गिर इमा भवन्तु विश्वतः ।
वृद्धायुमनु वृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टयः ॥ ५ । २९

हे गिर्वण ! इन्द्र ! शनैः प्रातःसवनं, तत उच्चैर्म्माध्यन्दिनं सवनं, तानस्वरेण तृतीयं सवनमिति सवनक्रमेण वृद्धिमत्यः इमाः स्तोत्रशस्त्ररूपा वाचो वृद्धमनुष्यं वृद्धमरुतं महामनुष्यं वा त्वां सर्वतः कटरूपेण परिगृह्णन्तु ! किञ्च-अस्मत्कृताः सेवास्तव प्रिया भवन्तु—इत्याह ॥

परिषीव्यति । हे रज्जो ! त्वम्—

इन्द्रस्य स्यूरसि । १ ।

इन्द्रस्य सदोऽभिमानिदेवस्य सीवनमसीत्याह ॥ १ ॥

ग्रथ्नाति । हे ग्रन्थे !-त्वम्—

इन्द्रस्य ध्रुवोऽसि । २ ।

इन्द्रसम्बन्धी भूत्वास्थिरो भवसीत्याह ॥ २ ॥

अभिमृशति । हे सदः !-त्वम्—

ऐन्द्रमसि । ३ ।

इन्द्रसम्बन्धि भवसीत्याह ॥ ३ ॥

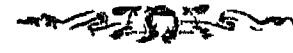
हविर्धानमण्डपस्यापरान्तो वायव्यकोणः, तस्योत्तरभागे किञ्चिदाग्नीध्रनामक मग्निस्थानं कृत्वा तदालभते —

हे आग्नीध्र !-त्वम्

वैश्वदेवमसि ॥ ४ ॥ ५ । ३०

सर्वदेवसम्बन्धि भवसीत्याह ॥ ४ ॥

इत्यौदुम्बरी मन्त्राः प्रकृताः ॥



इत उत्तरं षोडश धिष्ण्यमन्त्राः ।



अग्नीनांमाश्रयभूता मृदा निर्म्मिताः स्वल्पवेदिका धिष्ण्यान्युच्यन्ते। धिष्ण्यान्निवपति उद्धतावोक्षिते पुरीषं निवपति स्फ्येचनान्वारब्धउदङ्ङुपविश्य —। तत्राग्नीध्रीयं पूर्वम् । ततः षट् सदसि प्रत्यङ्मुखो द्वारमपरेण होतुः-दक्षिणपूर्वेणौदुम्बरीं मैत्रावरुणस्य होतृ-धिष्ण्यमुत्तरेण चतुरः समान्तरान् ब्राह्मणाच्छंसि-पोतृनेष्ट्रच्छावाकानाम्। हे आग्नी ध्रीय धिष्ण्य !—त्वम् —

विभूरसि प्रवाहणः । १ ।

हे होतृधिष्ण्य !-त्वम्—

वन्हिरसि हव्यवाहनः ।

हे मैत्रा वरुणधिष्ण्य !—त्वम्—

श्वात्रोऽसि प्रचेताः । ३ ।

हे ब्राह्मणाच्छंसि धिष्ण्य !—त्वम्—

तुथोऽसिविश्ववेदाः । ४ । ५ । ३१

हे पोतृधिष्ण्य !—त्वम्—

उशिग सि कविः । ५ ।

हे नेष्टृधिष्ण्य !—त्वम्—

अङ्घारिरसि बम्भारिः । ६ ।

हे अच्छावाक् धिष्ण्य !—त्वम्—

अवस्यूरसि दुवस्वान् । ७ ।

एवं होत्रादिधिष्ण्यान् सदसि निर्म्माय वेदेराग्नीध्राद्दक्षिणभागे सम्प्रतिवेद्यन्ते दक्षिणामुखो मार्जालीयम्—तत्राह—हे पात्र प्रक्षाल्नन ! त्वम्—

शुन्ध्यू रसि मार्जालीयः । ८ ।

सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशति आहवनीय वहिःपवमानदेशचात्वाल-शामित्रौ-दुम्बरी-ब्रह्मासन-शालाद्वार्य्य-प्राजहितान् हे उत्तरवेदिगताहवनीय ! त्वम्

सम्राडसि कृशानुः ॥ १ ॥

हे बहिः पवमानदेश ! त्वम्—

परिषद्योऽसि पवमानः ॥ २ ॥

हे चात्वाल ! त्वम—

नभोऽसि प्रतक्वा ॥ ३ ॥

हे शामित्र ! त्वम्—

मृष्टोऽसि हव्यसूदनः ॥ ४ ॥

हे औदुम्बरि ! त्वम्—

ऋतधामासि स्वर्ज्योतिः । ५ । ५३२

हे ब्रह्मासन ! त्वम्—

समुद्रोऽसि विश्वव्यचाः ॥ ६ ॥

हे प्राचीनवंश शालाद्वारवर्तिन्नग्ने !-त्वम्-

अजोऽस्येकपात् । ७ ।

पत्नीशालापश्चिमभागवर्ती पुरातनो गार्हपत्योऽग्निः प्राजहित उच्यते । हे प्राजहित !-त्वम्-

अहिरसि बुध्न्य । ८ ।

सदोऽभिमृशति । हे सदः !-त्वम्-

वागस्यैन्द्रमसि सदोऽसि । १ ।

सदोद्वारशाखे अभिमृशति ।

ऋतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तम् । २ ।

हे यज्ञस्य द्वारदेशस्थापिन्यौ शाखे ! युवां प्रवेशनिः क्रमणे स्खलनादिना मां मा सन्तापयतमित्याह ॥ २ ॥

अथोत्तरैस्त्रिभिर्मन्त्रैः क्रमेणाभिमन्त्रयते सूर्य्यं मित्रं धिष्ण्यांश्च ।

अध्वनामध्वपते प्र मा तिर,
स्वस्ति मेऽस्मिन् पथि देवयाने भूयात् । १ ।

हे मार्गपाल सूर्य्य ! मार्गाणां मध्ये वर्तमानं मां त्वं प्रवर्द्धय ॥ तथा अस्मिन् देवयाने मार्गे मम कल्याणं भूयात्—इत्याह ॥ १ ॥

हे ऋत्विजः !

"मित्रस्य मा चक्षुषेक्षध्वम्" । २ ।

मित्राख्यस्यादित्यस्य नेत्रेण मां पश्यध्वमित्याह । यद्वा—यथा सखा सखायं हितचक्षुषा पश्यति तथा मां पश्यध्वमित्याह ॥ २ ॥

"अग्नयः सगराः, सगराः स्थ सगरेण नाम्ना,
रौद्रेणानीकेन पात मा, अग्नयः पिपृत मा,
अग्नयो गोपायत मा, नमो वोऽस्तु, मा मा हिंसिष्ट । ३ । ५ । ३४

हे सगरा अग्नयः ! यूयं स्तुतिसहितेन धिष्ण्या इति नाम्ना व्यवह्रियमाणत्वात् सगरा भवथ । हे अग्नयः ! तादृशा यूयं उग्रेण सैन्येन मां रक्षत, यद्वा रुद्रदैवत्येन मुखेन मां रक्षत । हे अग्नयः ! धनादिभिर्मां पूरयत मां रक्षत युष्मभ्यं नमोऽस्तु मां मा वधिष्ट इत्याह ॥ ३ ॥

ध्रुवायाः पुरस्तात् पृषदाज्यमाज्यं दधिमिश्रं पञ्चगृहीतम् हे आज्य ! त्वम्—

'ज्योतिरसि विश्वरूपं विश्वेषां देवानां समित । १ ।

बहुष्वाहुतिषूपयुक्तत्वात्सर्वरूपं सर्वेषां देवानां संदीपकं ज्योतिरसीत्याह ॥

प्रदीप्तमिध्मं प्रचरण्याभिजुहोति । जुहूरिव सोमसाधना काचित् स्रुक् प्रचरणीत्युच्यते ।

"त्वं सोम तनूकृद्भ्यो द्वेषोभ्योऽन्यकृतेभ्य
उरु यन्तासि वरूथं स्वाहा ॥ १ ॥

हे सोम ! त्वं राक्षसेभ्योऽन्यकृतेभ्यो दौर्भाग्येभ्यश्च नियन्तासि यथा तादृशा

अस्मान् मा बाधन्ते। तमेव चास्माकं प्रभूतं बलमसि, तस्मै तुभ्यमिद हुतमस्तु इत्याह ॥ १ ॥

द्वितीयां जुहोति—

"जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहा। २। ५। ३५

प्रीयमाणः सोम आज्यं पिबतु, तस्मै सुहुतमस्तु इत्याह ॥ २ ॥

अथ वाचयति—

"अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् ॥
विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ॥
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो ॥
भुयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम ॥ १ ॥ ५। ३६

हे अग्ने! हे देव! सर्वाणि विज्ञानानि सर्वान् मार्गान् वा जानानस्त्वमस्मान-नुष्ठातॄन् धनाय यज्ञफलाय शोभनमार्गेण प्रापय। किञ्च-अस्मत्तोऽनुष्ठातृभ्यः पापमभि-लषितक्रियाप्रतिबन्धकं पृथक्कुरु। किञ्च तव बहुतमं हविषां वचन याज्यापुरोऽनुवा-क्यालक्षणं करवाम। यद्वा-नमस्कारविषया मुक्तिमुपादयामेत्याह ॥ १ ॥

शालामुखीय मग्निं ग्रावद्रोणकलससोमपात्राणि च सद उत्तरेण नीत्वा आग्नीध्र-मण्डपे निधाय तत्रत्यधिष्ण्यगतेऽग्नौ घृतेन जुहुयात्।

"अयं नो अग्नि र्वरिवस्कृणोतु
अयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्
अयं वाजान् जयतु वाजसाता
वयं शत्रूञ्जयतु जहृषाणः—स्वाहा। १। ५। ३७

स्वस्य न हानिः। यद्वा—सोमरूपमन्नं देवेभ्यो दत्तमस्तु। अहं वरुणस्य पाशान्निर्मुक्तोऽस्मीत्याह ॥

आहवनीये समिधमाधत्ते। पूर्वं यजमानोऽग्नि शरीरेण आत्मशरीरस्य कृतव्यत्ययोऽधस्तनं कर्म्मरूपालं कृत्वाऽथ यथास्वशरीरं कुर्वाणो जपति—

अग्ने व्रतपास्त्वे व्रतपा,
या तव तनूर्मय्यभूदेषा सा त्वयि,
यो मम तनूस्त्वय्यभूदियं सामयि,
यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां
दीक्षापतिरमंस्तानु तपस्तपस्पतिः। ५। ४०

हे अग्ने! सर्वेषां व्रतानां पालकोऽसि। अतस्त्वं मदीयव्रतस्यापि पालको भव। व्रतप्रार्थनकाले तव या तनूः मयि अवस्थिता एषा तव तनूः त्वयि भवतु। या च मम तनूस्त्वय्यभूत् सो इय मयि भवतु। हे व्रतपालक! अग्ने! आवयोः कर्म्माणि यथास्वं सन्तु—अनुष्ठानरूपं व्रतं ममाऽस्तु। तत्पालनरूपं व्रतं तवास्तु इति॥ किञ्च—दीक्षा पालकोऽग्निः मम दीक्षार्थं नियममङ्गीकृतवान्। तपः पालकोऽग्निः मदीयामुपसदमनुमतवान्। इत्याह॥

इति षोडशधिष्ण्य मन्त्राः

अथ यूपसंपादनमन्त्राः॥

यूपं छेत्तुं गमिष्यन् चतुर्गृहीतमाज्यमाहवनीये जुहोति।

उरु विष्णो विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि।
घृतं घृतयोने पिब प्र प्र यज्ञपतिं तिर—स्वाहा॥ ५। ४१

ततः शेषमाज्यमादाय यूपतक्षणार्थं स तक्षा वनं गत्वा यूपमभिमृशति, प्राङ् तिष्ठन्नभिमन्त्रयते वा—

२॥ २॥
अत्यन्यान् अगां नान्यान् उपागा,मर्वाक् त्वा
परेभ्योऽविदं, परोऽवरेभ्यः। तं त्वा जुषामहे देव वनस्पते
देव यज्यायै देवास्त्वा देव यज्यायै जुषन्ताम् ॥

हे पुरोवर्ति यूपवृक्ष! त्वत्तोऽन्यान् काँश्चिद् यूप्यवृक्षानपि समप्रदेशजन्मादि लक्षणरहितान् अतिक्रान्तवानस्मि। अन्यांश्च अयूप्यवृक्षान् नोपागाम्। किञ्च-परेभ्यो वृक्षेभ्यो दूरवर्तिभ्यो निकटं त्वां लब्धवानस्मि। निकटेभ्यः परस्तादविदम् ॥ हे वनस्पते! हे देव! तादृशं त्वां देवयागार्थं वयं सेवामहे। देवा अपि देवयज्यायै त्वां सेवन्तामित्याह ॥ १ ॥

पलाश—खदिर—विल्वादयो यूप्याः, निम्बजम्बीरादयस्त्वयूप्याः ॥

स्रुवेणोपस्पृशति। हे यूपवृक्ष!

"विष्णवे त्वा।

त्वां यज्ञायोपस्पृशामीत्याह ॥

यूपवृक्षस्य कुशतरुणमन्तर्द्धानं कुर्यात्—

"ओषधे त्रायस्व।

हे ओषधे! त्वं स्वधितिभयात् मां रक्षेत्याह ॥

परशुना प्रहरति—

"स्वधिते मैनं हिँसीः ॥ ५। ४२

हे परशो ! एनं यूपं मा वधीरित्याह ॥

पतन्तमभिमन्त्रयते । हे यूपवृक्ष ! त्वम्—

"द्यां मा लेखी, रन्तरिक्षं मा हिंसीः, पृथिव्या संभव ।

द्युलोकं मा हिंसीः । अन्तरिक्षं च मा हिंसीः । पृथिव्या सह सङ्गतो भवेत्याह ॥

शोधयति । हे छिन्नवृक्ष ?

"अयं हि त्वा स्वधितिस्तेतिजानः
प्रणिनाय महते सौभगाय ॥

अतितीक्ष्णोऽयं कुठारो महते सौभाग्याय यज्ञाय वा त्वां यूपत्वं प्रापयति । यस्मादेवं तस्मात्त्वया छेदान्न भेतव्यमित्याह ॥

आवृश्चने जुहोति यूपे वा ।

"अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोह
सहस्रवल्शा वि वयं रुहेम ॥ ५ ।४३

हे देव ? वनस्पते ! त्वम् अस्मात् स्थाणोः बह्वङ्कुरः सन् विजायस्व । वयमपि पुत्रपौत्रादिबहुशाखोपेताः प्रजायेमहि इत्याह ॥

॥ इति यूप संपादनम् ॥



❀ अथ यूपसंस्कारः ॥

औदुम्बरीवदिहापि तत्तन्मन्त्रैः क्रमेण अभ्रिमादाय[1] यूपावटं[2] परिलिख्य अप्सु यवानोप्य[3] अग्रमध्यमूलानि प्रोक्ष्य[6] अवटे शेष[7] मासिञ्च्य बर्हींषि प्राक्त्युदञ्चि च प्रास्यति[8] -

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां
पूष्णो हस्ताभ्याम् आददे नार्य्यसि । १ ।
इदमहं रक्षसां ग्रीवा अपि कृन्तामि । २ ।
यवोऽसि यवयास्मद्द्वेषो यवयारातीः । ३ ।

दिवे त्वा,[1] अन्तरिक्षाय त्वा,[2] पृथिव्यै त्वा,[3] । ६ ।
शुन्धन्तां लोकाः पितृ षदनाः । ७ ।
पितृ षदन मसि" । ८ ।

यूपावटे प्रथमशकलं निक्षिपति । हे यूपशकल ! त्वम् —

अग्रेणीरसि स्वावेश उन्नेतृणामेतस्य
वित्तादधि त्वा स्थास्यति ॥

यूपस्य छिद्यमानस्य प्रथममपनीयमानतया प्रथमावयवभूतो भवसि । यद्वा । अवटं प्रति यूपमग्रे नयसीति । किञ्च—उन्नयन कर्तृणामध्वर्य्यूणां सुखेनावेशयितुं शक्योऽसि । स त्वमेतस्य कर्म्मणो जानीहि । यदय यूपः त्वदुपर्य्यवस्थानं करिष्यसीति । इत्याह ॥

❀ अत्र संहितायां षष्ठाध्याय प्रारम्भः ।

अथानक्ति यूपम् । हे यूप !

देवस्त्वा सविता मध्वानक्तु ॥

सविता देवो मधुरेणाज्येन त्वा मनक्तु-इत्याह ॥

चषालमुभयोऽक्तं यूपाग्रे प्रतिमुञ्चति । हे चषाल !

सुपिप्पलाभ्य स्त्वौषधीभ्यः ।

शोभन फलयुक्ताभ्यो ब्रीह्याद्योषधीभ्यस्त्वां यूपस्याग्रे प्रतिमुञ्चामीत्याह ॥

अथ यूप मुच्छ्रायति । हे यूप ! त्वम् —

द्यामग्रेणास्पृक्ष, अन्तरिक्षं मध्येनाप्राः,
पृथिवी मुपरेणादृंहीः । ६ । २

अग्रभागेन दिवं स्पृष्टवानसि । मध्यभागेनान्तरिक्षमापूरितवानसि । अधो भागे नानिष्ट प्रदेशेन भूमिंदृढीकृतवानसीत्याह ॥

अवटे यूप मिनोति । हे यूप !

या ते धामान्युश्मसि गमध्यै
यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णोः
परमं पदमवभारि भूरि ॥ १ ॥

यानि तव स्थानानि गन्तुं वयं कामयामहे । येषु तवस्थानेषु रश्मयो बहुदीप्तयो गन्तारः । अत्रैव महागतेर्महाजनस्तुतस्य वा विष्णोस्तदादित्य मण्डल लक्षणमुत्कृष्टं पदं बहुप्रकार मवभाति । तादृशस्थान प्राप्ति हेतुभूत कर्म्मणे अत्रावटे त्वं तिष्ठ इत्याह ॥ १ ॥

पांसुभिः पर्य्यूहति । हे यूप !

ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोषवनि पर्य्यूहामि ।

मैत्रा वरुण दण्डेन समन्तं त्रिःपर्यृषति ।

ब्रह्म दृंह क्षत्रं दृंहायुर्दृंह । ६ । ३

यूपं स्पृष्टवन्तं यजमानं वाचयति ।

विष्णोः कर्म्माणि पश्यत यतो व्रतानि
पस्पशे इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ । ४

हे ऋत्विजः ! विष्णोर्यज्ञाधिष्ठातुः सृष्टिसंहारादिचरितानि यूयं पश्यत । यैः कर्म्मभिर्भवदीयानि लौकिकवैदिक कर्म्माणि बद्धवान । स विष्णु रिन्द्रस्य वृत्रवधादिकर्म-सुयोज्योऽनुरूपः सखा भवति इत्याह । यद्वा—यज्ञस्य वीर्य्याणि पश्यत । यैर्वीर्य्यैराधान पशु सोमादीनि कर्म्माणि आत्मनि बद्धवान् । इत्याद्याह ॥

यूप कटकं चषालं नाम प्रेक्षमाणं यजमानं वाचयति—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ २ ॥ ६ । ५

विष्णोः तत्परमं स्वरूपं विद्वांसः सदा पश्यन्ति । यदाकाशे निरावरणे चक्षुरिव व्याप्तम् । यद्वा-यदाकाशे आदित्य मण्डलं विस्तारितम् । इत्याह ॥

त्रिगुणा त्रिव्यामा कौशी रशना, तया नाभिमात्रे त्रिवृत्तां परिव्ययति । हे यूप ! त्वम्—

परिवीरसि परित्वा दैवीर्विशो व्ययन्तां
परीमं यजमानं रायो मनुष्याणाम् ॥

परितो रशनया वेष्टितोऽसि, अस्माभिः परिवारितोऽसि वा । किञ्च—देव सम्बन्धिन्यः प्रजा मरुद्गणादयः त्वां परिव्ययन्ताम् । यद्वा—पशवस्त्वां परितो वेष्टयन्तु, किञ्च—मनुष्याणां धनानि इमं यजमानं वेष्टयन्तु इत्याह ॥

"दैव्यो वा एता विशो यत्पशव"-इति श्रुतिः ॥

अष्टास्रे यूपस्य यास्रि रग्नि समीपे स्थिता साग्निष्ठा । तस्या उत्तरभागे रशनायां स्वरुनामकं शकल मवगूहति । हे स्वरो ! त्वम्—

दिवः सूनुरसि ।

द्युलोकस्य पुत्रोऽसि- इत्याह ॥ द्युलोकाद्वर्षा । ततोयूपः । ततः स्वरुरिति कृत्वा पुत्रत्वोपचारः । यूपैकादशनीपक्षे वर्षिष्ठा धूमाद्दक्षिणभागे अतष्टास्रि द्वादशं यूपं स्थापयति न तु निखनति हे यूप !

एष ते पृथिव्यां लोक, आरण्यस्ते पशुः ६ । ६

पृथिव्यां तवै तदाश्रयस्थानम् । वने वर्तमानः पशुस्तवैवेत्याह ॥

। इति यूप संस्कारः ॥

अथाग्नीषोमीय पशुप्रयोगः

"पशवो वै यूपमुच्छ्रयन्ती" ति श्रुते यूपे पशुसंबन्धो ज्ञायते ॥ पशूपस्पर्शनाय तृणमादत्ते । हे तृण विशेष ! त्वम्—

उपावी रसि ।

पशोर्द्वितीयः सखासीत्याह ॥

अथ तेन पुरस्तात् प्रत्यञ्चं स्थितं पशुमुपस्पृशति ॥

उप देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान् ।
देव त्वष्टर्वसु रम हव्या ते स्वदन्ताम् ॥ ६ । ७
रेवती रमध्वं, बृहस्पते धारया वसूनि ॥

पशवो मेधाविनो हवींषि कामयमानान् वा स्वर्गप्रतिप्रापयतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमान् देवानग्नीषोमादीन् उपगच्छन्तु ॥ हे देव ! हे त्वष्टः ! त्वं पशुलक्षणं धनं रमय ॥ हे पशो ! तव हवींषि स्वादूनि भवन्तुः हवींषि देवा आस्वादयन्तु वा । हे रेवन्तः ! क्षीरादिधनवन्तः ? पशवः ! यूयं यजमानगृहे संक्रीडध्वम् ॥ हे बृहस्पते ! हे ब्रह्मन् ! पशुलक्षणानि वसूनि निश्चलीकुरु । इत्याह ॥ "दैव्यो वा एता विशो यत्पशवः" इतिश्रुतिः । "रेवन्तो हि पशव" इति श्रुतिः । "ब्रह्म वै बृहस्पतिः पशवो वसु" इति श्रुतिः ३।७।३।१२ ॥

व्यामद्वयपरिमितया कौश्या द्विगुणरशनया नागपाशं कृत्वा शृङ्गयोरन्तराले ऽभिदक्षिणशृङ्गं पशुं बध्नाति ।

ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि-
धर्षा मानुषः ॥ ६ ॥

हे देवहविः ! पशो ! सत्यस्य यज्ञस्य पाशेन त्वां बध्नामि । शमिता मानुषः शर्मयितुं शक्नोतु पाशेन बद्धत्वादित्याह ॥

यूपे पशुं बध्नाति । हे पशो !

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनो र्बाहुभ्यां-

पूष्णो हस्ताभ्याम्। अग्निषोमाभ्यां
जुष्टं नियुनज्मि ॥

पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षति। हे पशो!

अद्भ्य स्त्वौषधीभ्योऽनुत्वा माता मन्यता
मनु पिताऽनु भ्राता सगर्भ्योऽनुसखा सयूथ्यः।
अग्निषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामि। ६। ९।

अग्नीषोमाभ्यां प्रीत त्वां अद्भिरोषधीभिश्च मेध्यं करोमि। किञ्च—हे पशो! एवं प्रोक्षित त्वां भूमिर्माता द्यौः पिता, सोदरो भ्राता, समानयूथवर्त्ती सखा चानुजानातित्वत्याह ॥

स्वमातृभक्षिताभ्यां तृणोदकाभ्यां पशोरुत्पत्तेस्तेनोभयेन प्रोक्षण युक्तम्। तदाह—तित्तिरिः "अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याह अद्भ्यो ह्येष ओषधीभ्यः सम्भवति" इति॥

पशोर्मुखे प्रोक्षणी धारयति। हे पशो! त्वम्—

अपां पेरुरसि।

उदकानां पानशीलो भवसि तत इदं पिबेत्याह।

पशो रधो भागे हृदि प्रोक्षति। हे पशो!

आपो देवीः स्वदन्तु स्वात्तं चित्सद्देव हविः।

आपो देव्यस्त्वा मास्वादयन्तु। यतो देवानां हविः पशु लक्षण मास्वादितं सत् देवयोग्यं भुयात्। इत्याह ॥

इत्थं प्रोक्षण त्रयेण पशोः सर्वाङ्गम् मेध्यं करोतीत्याह तित्तिरिः। "उपरिष्टात् प्रोक्षति उपरिष्टादेवैनं मेध्यं करोति। पाययति-अन्तरत एवैनं मेध्यं करोति। अधस्ता दुपोक्षति सर्वमेवैन मेध्यं करोतीति" ॥

उत्तराधार होमानन्तरं ध्रुवासञ्जनादर्वागेव भाले[१] अंसयोः[२] श्रोण्योश्च[३] त्रेधा पशुं समनक्ति प्रतिमन्त्र क्रमेण । हे पशो !

सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् १
समङ्गानि यजत्रैः २
सं यज्ञपति राशिषा ३ । ६ । १०

तव प्राणो बाह्येन वातेन सङ्गच्छताम्, इति भालाञ्जन[१] माह । तवाङ्गानि अंसादीनि यागैः सङ्गच्छ तामिति–अंसाञ्जन[२] माह । यजमानो यज्ञफलेन सङ्गच्छता मिति श्रोण्यञ्जन[३] माह ।।

विशमित्रा दत्तं शासं गृहीत्वा स्वयमेव यूपात् स्वरुमादाय तावसिस्वरू जुह्वग्रे घृतेनाक्त्वा ताभ्यामसिस्वरुभ्यां पशोर्ललाट मुपस्पृशति । हे स्वरुशा सौ ! युवाम्—

घृतेनाक्तौ पशूँस्त्रायेथाम् ॥

घृतेनाक्तौ सन्तौ एत पशुं पालयेथाम् इत्याह ॥

यजमानं वाचयति ।

रेवती यजमाने प्रियं धा, आविश,
उरोरन्तरिक्षात् सजूर्देवेन वातेनास्य हविषम्
त्मना यज, समस्य तन्वा भव ।

हे रेवति ! धनवति ! वाग्देवते ! अस्मिन् यजमाने अभिप्रेतंधेहि । ज्ञान प्रदानेन यजमानं प्रविश । किञ्च—वातेन देवेन समान प्रीतिभूत्वा विस्तीर्णादन्तरिक्षाद् यजमानं गोपाय । किञ्च अस्य पशुलक्षणस्य हविष आत्मना यज । किञ्चास्य पशोः शरीरेण सभव । इत्याह ॥

हस्तस्थ तृणद्वयमध्ये एकं तृणं शामित्रस्य पश्चात् प्रागग्र मुपास्यति । येन विश-सनीयस्य पशो भूमिस्पर्शो मा भूत् ।

वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धाः ।

हे वर्ष प्रसव ! तृण ! त्वं विस्तीर्णतरे यज्ञे यजमानं धेहीत्याह ॥

अथ जुहोति—

स्वाहा देवेभ्यः । देवेभ्यः स्वाहा ६ । ११ ।

पुरस्तात् स्वाहा कृतयोऽन्ये देवाः-उपरिष्टात् स्वाहाकृतयोऽन्ये, स्वाहादेवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति तित्तिरिः ॥

वपाश्रपणीभ्यां काष्ठविशेषाभ्यां नियोजनीं नाम पशुवन्ध नरज्जुं द्विगुणां चात्वाले प्रास्यति । हे रज्जो ! त्वम्—

माहि र्भूर्मा पृदाकुः ।

सर्पाकारा मा भूयाः, तथा-अजगराकारापि माभू रित्याह ॥ पान्नेजनहस्तां—(पादाद्यङ्ग प्रक्षालनार्थं जलकलशयुक्त हस्तां) पत्नीं गार्हपत्य समीपात् पशुशोधनाय नयन प्रतिप्रस्थाता तां वाचयति—

नमस्त आतानानर्वा प्रेहि
घृतस्य कुल्या उप ऋतस्य पथ्या अनु । ६ । १२ ।

हे आतान ! यज्ञ ! तुभ्यं नमोऽस्तु । त्वं शत्रु रहितः सन् समाप्ति पर्य्यन्तं प्रकर्षेण गच्छ । किञ्च यज्ञस्य पथि भवाः घृतनदीरनुलक्ष्य उपप्रेहीत्याह ॥

"यज्ञो वा आतानो यज्ञं हि तन्वते" इति श्रुतिः ३ । ८ । २ । २ ।

"अनर्वा प्रेहीत्य सपत्नेन प्रेहीति" श्रुतिः । अनर्वा प्रेहीत्याह

"अनतव्यो वा अर्वा, आतव्यानुत्यै" इति—तित्तिरिः। अत्र घृतकुल्याग्रहणं सान्नाय्य पृषदाज्य कुल्योपलक्षणार्थम् ॥

एवं यज्ञं स्तुत्वा अपः स्तौति—

देवीरापः शुद्धा वोढ्वं सुपरिविष्टादेवेषु ।
सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्म ६ । १३ ।

हे आपो देव्यः! स्वभावतः शुद्धाः, पात्नेजनीपात्रे च साधुसर्वतो निविष्टा यूयमेनं पशुं देवान प्रति प्रापयत। किञ्च—वयमपि देवेषु मध्येऽवस्थितास्तैरेव देवैस्तर्पिताः सन्तस्तेषामेव देवानां परिवेषण कर्तारो भूयास्म इत्याशीराह ॥

पत्नी पशुसमीप उपविश्य मृतस्य पशोर्मुख[1] नासिके[2] चक्षुषी[3] कर्णौ[4] नाभिं[5] मेढ्रं[6] पायुं[7] पादान्[8] इत्यष्टौ प्राणायतनानि शोधयितुं प्रतिमन्त्रक्रमेणाद्भिः स्पृशति। यथा- हे पशो!

वाचं ते शुन्धामि १ प्राणं ते शुन्धामि २
चक्षुस्ते शुन्धामि ३ श्रोत्रं ते शुन्धामि ४
नाभिं ते शुन्धामि ५ मेढ्रं ते शुन्धामि ६
पायुं ते शुन्धामि ७ चरित्रांस्ते शुन्धामि ८ । ६ । १४ ।

ततः-पात्नेजनशेषेण यजमानोऽध्वर्युश्च पशोः शिरो मुखं[1] नासिके[2] चक्षुषी[3] कर्णौ[4][5] चानुपिञ्चतः। हे पशो!

मनस्त आप्यायताम्[1] वाक् त आप्यायताम्[2]
प्राणस्त आप्यायताम्[3] चक्षुस्त आप्यायताम्[4]
श्रोत्रं त आप्यायताम्[5] ॥

अथ—सर्वाण्यङ्गान्यविशिष्टानि[६]। हे पशो !

यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्यायताम्

निष्ट्यायतां तत्ते शुध्यतु[६]।

ततः पशोः पश्चाज्जघनदेशे निषिञ्चतः[७]।

शमहोभ्यः[७]।

दिवसादिकालविशेषेभ्यः सुखमस्माकं पशोर्वा भूयादित्याह ॥ ७ ॥

उत्तानं पशुं कृत्वा नाभेरग्रेऽङ्गुलचतुष्टये तृणं निदधाति।

ओषधे त्रायस्व।

अथ प्रज्ञातया कृतचिह्नया घृताक्तयाऽसिधारया तृणोपरिघृतया तूष्णीं सतृणामुदर त्वचं छिनत्ति।

स्वधिते मैनं हिंसीः॥

यत्तृणं नाभ्यग्रे स्थापितं तस्य छिन्नस्य तृणस्याग्रं वामहस्तेन धृत्वा दक्षिणहस्तेन मूलं धृत्वा तद्द्विगुणी कृत्य अग्रे मूले च पशुच्छेदननिष्पन्नेन लोहितेनाञ्ज्यात्। हे लोहिताक्त तृण ! त्वम्—

रक्षसां भागोऽसि। १।

ततस्तल्लोहिताक्तं तृणमुत्करेऽपास्यति।

निरस्तं रक्षः। २।

तत उत्करे क्षिप्तं रुधिराक्तं तत्तृणं यजमानोऽभितिष्ठति ।

इदमहं रक्षोऽभितिष्ठामि
इदमहं रक्षोऽवबाधे
इदमहं रक्षोऽधमं तमो नयामि । ३ ।

अहं यजमान इदं तृणरूपमध्वर्युणा निरस्तं रक्षोऽभितः पादेनोत्क्रम्य तिष्ठामि । तथाचाहमिदं रक्षोऽवाचीनं यथा भवति तथा नाशयामि । किञ्च–अहमिदंरक्षोऽत्यन्तनिकृष्टं नरकं प्रापयामीत्याह ॥ ३ ॥

अथ पशूदराद्वपामुत्खिद्य तया वपाश्रपण्यौ प्रोर्णौति वपाश्रपण्यो द्यावा पृथिव्या वध्यस्ते उच्येते—

घृतेन द्यावा पृथिवी प्रोर्णुवाथाम् । ४ ।

हे द्यावापृथिवी ! युवामुदकेनात्मानमाच्छादयेथाम् । इत्याह ॥ ४ ॥

वामहस्तेधृतं तृणाग्रमाहवनीयेऽध्वर्युः क्षिपति ।

वायो वेः स्तोकानाम् । ५ ।

हे वायो ! त्वं वपा सम्बन्धिनां विप्रषां जानीहि । तेऽत्र तिष्ठन्तीति ज्ञात्वा पिवेत्याह ॥ ५ ॥

वपां स्रुवेण भिघारयति ।

अग्नि राज्यस्य वेतु स्वाहा । ६ ।

आहवनीय आज्यं पिवतु सुहुतमस्तु इत्याह ॥ ६ ॥

वपां हुत्वा उत्तरत उपविश्य वपाश्रपण्यावाहवनीये एव क्षिपति । तत्र विशाखांमाग्रां क्षिपति (विशाखा द्विशृङ्गा) एकशृङ्गां तु प्रत्यगग्राम् ।

स्वाहा कृते ऊर्ध्वनभसं मारुत गच्छतम् ।

स्वाहाकारेणाहुतिभावमुपगते सन्तौ युवां नभोमध्ये वर्तमानं वायुं प्राप्नुता मित्याह ॥ वायुर्हि प्रतिष्ठा यज्ञस्य ॥

अथ सर्वे ऋत्विजः चात्वालसमीपे अद्भिरात्मनमभ्युक्षन्ति ।

इदमापः प्रवहतामवद्यं च मलं च यत्
तच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्
आपो मा तस्मादेनसः पवमानश्च मुञ्चतु । ६ । १७ ।

हे आपः ? इदं पशुसञ्ज्ञपननिर्मितं पापं प्रवहत । यच्चावदनीयमभिशापादि यच्चमलं शरीरे तदप्यपनयत किञ्च—यदहमसत्यमुक्त्वा द्रुग्धवानस्मि, यच्चाहमनपराधित्वान्निर्भयं शपितवानस्मि । हे आपः ! तस्मात् सर्वस्मादेव पापाद् मां पृथक्कुर्वन्तु । पावमानश्च सोमो वायुर्वा तस्मात् पापात् मां मुञ्चतु । इत्याह ॥

अथ जुहूस्थेन पृषदाज्येन पूर्वं हृदयमभिघार्य्य तूष्णीं सर्वं पशुमभिघारयेत् । हे हृदय !

सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् । १ ।

तव पशोर्मनः पृषदाज्येनाभिघारितं सद्देवानां मनसा संगच्छताम् । तव प्राणो-ऽप्यभिघारितो देवानां प्राणेन सङ्गतोऽस्तु—इत्याह ॥ १ ॥

मांसपाकभाण्डे स्थितः स्नेहात्मको द्रवविशेषो वसा । तां गृह्णीयात् । हेवसे ! त्वम्-

रेडस्यग्निष्ट्वा श्रीणात्वापसत्वा समरिणन्
वातस्य त्वा ध्राज्यै पूष्णो रंह्या ऊष्मणो व्यथिषत् ॥

हिंसि तेवाभासि । अग्निः त्वां पाचयतु, आहवनीयो वा त्वां स्वीकरोतु । आपः त्वां समभरन्-पृणन्, । आपो हि पच्यमानेभ्यः पश्वङ्गेभ्यो वसां नाम रसमुत्पादयन्ति ।

यद्वा—आपः त्वां सम्यक् प्राप्नुवन्तु। यथा ते शोषो नस्यात्। तथाविधां त्वां वाय्वा दित्ययोरप्रतिहतगमनसिद्ध्यर्थं गृह्णामि। किञ्च-इयं वसा ब्रह्मोष्मणोऽन्तरिक्षस्य तृप्तिं कृत्वातिरिक्ता भवत्वित्याह॥

इत्थं वसां द्विरभिघार्य्य पार्श्वेनासिना वा आज्यं वसां च मिश्रयति।

प्रयुतं द्वेषः। ६। १८

घृतमिश्रणेन वसायाः सकाशात् दौर्भाग्यं पृथग्भूतमित्याह॥

वासाहोमहवन्या वसाया एकदेशं जुहोति।

घृतं घृतपावानः पिवत, वसां वसापावानः पिवत,
अन्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहा॥

हे घृतस्य पातारो देवाः! यूय घृतं पिवत। हे वसायाः पातारो देवाः। यूयं वसां पिवत। हे वसे! त्वमन्तरिक्षस्य हविरसि। सुहुतमस्तु-इत्याह॥

वसा शेषेण वाजिनवद्ध दिशो व्याधारयति प्रदक्षिणम्—

दिशः। प्रदिशः। आदिशः।
विदिशः। उद्दिशः। दिग्भ्यः-स्वाहा॥ ६। १९

दिग्भ्यः स्वाहा[1]। प्रदिग्भ्यः स्वाहा[2]। आदिग्भ्यः स्वाहा[3]। वि दिग्भ्यः स्वाहा[4]। उद्दिग्भ्यः स्वाहा[5]। सर्वाभ्यो दिग्भ्यः सुहुतमस्तु—इत्याह॥

अथ पशुरूपं हविः संमृशति।

ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे तिदीध्यत्
ऐन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निधीतः॥ १॥

देव त्वष्टर्भूरि ते सं समेतु
सलक्ष्मा यद् विषुरूपं भवाति—
देवत्रा यन्तमवसे सखायो
ऽनु त्वा माता पितरो मदन्तु ॥ २ ॥

इन्द्र आत्मा, तत्सम्बन्धी प्राणवायुरस्य पशोः सर्वेष्वङ्गेषु निहितः। तथा इन्द्र सम्बन्धी उदानवायुः पशोः सर्वेष्वङ्गेषु निक्षिप्तः ॥ १ ॥ हे त्वष्टः देव! यत् पश्वङ्ग जातं समानलक्षणं सत् छेदनेन नानारूपं भवति तत्सर्वं तवानुग्रहेण बहुलमत्यन्तं सम्यगेकीभवतु ॥ हे पशो! एवं प्राणैः स्वाङ्गैश्च दृढीकृतं देवान् प्रति गच्छन्तं त्वां प्रीणयितुं मित्रभूता इतरे पशवो माता पितरश्च अभ्यनुजानन्तु-इत्याह ॥

अनुयाजेषु हूयमानेषु प्रतिप्रस्थाता पूर्वं स्थापितं गुदतृतीयभागमेकादशधा तिर्य्यक् प्रच्छिद्य प्रतिमन्त्रं जुहोति—

"समुद्रं गच्छ स्वाहा।१। अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा।२। देवं सवितारं गच्छ स्वाहा।३। मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा।४। अहोरात्रे गच्छ स्वाहा।५। छन्दांसि गच्छ स्वाहा।६। द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा।७। यज्ञं गच्छ स्वाहा।८। सोमं गच्छ स्वाहा।९। दिव्यं नभो गच्छ स्वाहा।१०। अग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहा।११।

इत्थं प्रतिवषट्कारमेकैकं गुदकाण्डं हुत्वा सर्वान्ते मुखमस्पृशति। हे समुद्रादि देवता समूह!

"मनो मे हार्दि यच्छ।"

हृदयसम्बन्धि मनो मे निबध्नीहि। निबद्धं मनो हि स्वादायतनान्न च्यवते इत्याह ॥

अनुयाजान्ते स्वरुं जुहोति। हे स्वरो!

"दिवं ते धूमो गच्छतु, स्वर्ज्योतिः,
पृथिवीं भस्मना पृण स्वाहा,, ॥ ६। २१

तव धूमो द्युलोकं गच्छतु वृष्ट्यै। तव ज्वाला आदित्यं गच्छतु। भस्मना पृथवीं समन्तात् पूरय। सुहुतमस्तु इत्याह॥

जले प्रविश्य आलब्धस्य पशोर्हृदयस्थं मांसं यस्मिन् श्रितं तं हृदयशूलं शुष्कार्द्रभूमदेशयोः सन्धौ भूमावधोमुखं क्षिपेत्। हे हृदयशूल! त्वम्

"मापो मौषधीर्हिंसीः।"

जलान्योषधीश्च मा हिंसीरित्याह॥

अथ सर्वे ऋत्विग्यजमाना जलं स्पृशन्ति।

"धाम्नो धाम्नो राजंस्ततो वरुण नो मुञ्च॥
यदा हुरघ्न्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च॥१॥
"सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु
दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु योऽस्मान् द्विष्टि य च वयं द्विष्मः। २। ५। २२

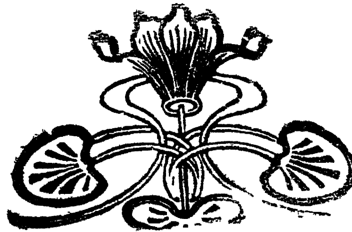
हे राजन्! वरुण! यस्माद् यस्मात् त्वदीयपाशसमन्वितात् स्थानात् वयं बिभीमः, तस्मात्तस्मात् स्थानात् अस्मान् मोचय। हे वरुण! अवध्याः पूजनीयाः इति यदाहुः, तदिति हिंस्मः। हे वरुण! तस्मादवध्याघजातादेनसोऽस्मान् मोचय॥ १॥

आप ओषधयश्चास्माकं साधुमित्रत्वेनावस्थिताः सन्तु। अथ यः शत्रुरस्मान्

द्वेष्टि, वयं च यं शत्रुं द्विष्मः, मस्मै चोभयविधाय शत्रवे आप ओषधयश्चामित्रत्वेना वस्थिताः सन्तु इत्याह ॥ २ ॥

केचित्तु धाम्नो धाम्ना इति मन्त्रं शूलोपगूहनमन्त्रशेषभूतम् सुमित्रिया इति मन्त्रं तु अपामभिमन्त्रणमाचक्षते इत्यलम् ॥

॥ इत्यग्नीषोमीयपशुयागप्रकरणम् ॥



॥ अथ सोमाभिषवोपयुक्तानां वसतीवरीसंज्ञानामपां ग्रहणम् ॥



अग्नीषोमीयस्य पशोर्वपामार्जनपर्यन्ते कर्म्मणि कृते यजमानस्तज्ज्ञो रविस्यन्दा वहन्तीनामपामेकदेशाद् वसतीवरीसज्ञानां सोमार्थानामपां ग्रहणं कार्य्यम्। यदि रवि रस्तंगतो यजमानश्च पुरा ईजानः सोमयाजी तदा गृहे एव मणिकाद्वसतीवरीग्रहणम्। यदि तु यजमानः पुरानीजानः तर्हि सर्वोपस्थितस्य यष्टुर्मणिकाद्ग्राह्यम्। उभयाभावे तु उल्कां कनकं वा वहन्तीनामपां समीपे धारयन् वहन्तीभ्य एव वसतीवरीर्गृह्णीयात्—

'हविष्मतीरिमा आपो हविष्मान् आविवासति ॥
हविष्मान् देवो अध्वरो हविष्मान् अस्तु सूर्यः ॥ १ ॥ ६ । २३

हविषा संयुक्तो यजमानो हविषा संयुक्ता इमा अपो वसतीवरीः परिचरति। ततो द्योतमानो यागोऽपि स्वशरीरनिष्पत्तये आभिरद्भिर्हविष्मानस्तु। तथा सूर्य्यदेवोऽपि यजमानस्य फलदानाय तृप्त्यर्थं च हविः संपन्नो भवतु इत्याह ॥ १ ॥

"यत्र वै यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत तस्य रसो द्रुत्वाऽपः प्रविवेश" ३।९।२।१। इति श्रुतेरपां हविष्मत्वम्। "एतस्मै वै गृह्णाति य एष तपति" ३।६।२।१२। इति श्रुतेः वसतीवरीभिः सूर्य्यस्य हविष्मत्वम् ॥

नूतनगार्हपत्यात् पश्चिमभागे ता वसतीवरीरासादयति। हे आपः!

"अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामि ॥ १ ॥

अविनश्वरगृहस्याग्नेः शालाद्वार्य्यस्य निकटस्थाने यूष्मान् स्थापयामीत्याह ॥ १ ॥

शालाद्वार्य्य समीपस्था वसतीवरीरादाय शालादक्षिणद्वारेण नीत्वा उत्तरवेदेर्द क्षिणश्रोणौ निदधाति । हे वसतीवर्य्यः ! यूयम्—

"इन्द्राग्न्योर्भागधेयी स्थ । १ ।

इन्द्राग्निदेवतयोर्भागरूपा भवथ इत्याह ॥ २ ॥

उत्तरवेदेरुत्तरश्रोणौ वसतीवरीर्निदधाति । हे वसतीवर्य्यः ! यूयम्

"मित्रावरुणयोर्भागधेयी स्थ ॥ ३ ॥

अथोत्तर वेदिश्रोणेः सकाशाद्वसतीवरीरादायाग्नीध्रीयस्य पश्चान्निदधाति । हे वसतीवर्य्यः ! यू-यम्—

' विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ ॥ ४ ॥

अथाभिनयेन दर्शयन् मन्त्रयति ।

"अमूर्य्या उप सूर्य्ये, याभिर्वा सूर्य्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ ५ ॥ । ६ । २४

या अमूर्वसतीवर्य्यः सूर्य्यसमीपे स्थिताः । याभिश्चाद्भिः सह सूर्य्यो याति । ता आपोऽस्माकं यज्ञं तर्पयन्तु इत्याह ॥ ५ ॥

आज्यासादनपर्य्यन्तं कर्म कृत्वा सोममादाय हविर्धाने गत्वा सोमं विस्रस्य वदर्द्धं दक्षिणशकटेषान्तरालेन संमुखेष्वभिषवार्थपाषाणेषु निदधाति । हे सोम !

"हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्य्याय त्वा ।
ऊर्ध्वमिममध्वरं दिवि देवेषु होत्रा ययच्छ । १ । ६ । २५

निश्चयात्मिकायै बुद्धये च संकल्पविकल्पात्मकाय मनसे द्युलोकप्राप्तये सूर्य्यमुखेभ्यो देवेभ्यस्तत्तृप्तये च त्वामुपावहरामि। यद्वा हृदयवद्भ्यो मनुषेभ्यो मनस्विभ्यः पितृभ्यो द्युलोकवासिभ्यो देवेभ्यो विशेषतः सूर्य्याय च त्वामुपावहरामि ॥ एव मुपावहृतोऽभिषुतश्च त्वमिमं मदीयं यज्ञमुत्कृष्टं कृत्वा द्युलोकवर्तमानेषु देवेषु वषट्कारवादिनः सप्त होतृकान् निबध्नीहीत्याह ॥ १ ॥

"स वा अध्वर्य्युः सोममुपावहरन सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति हृदे त्वेत्याह, मनुष्येभ्य एवैतेन करोति। मनसे त्वेत्याह पितृभ्य एवैतेन करोति। दिवे त्वा सूर्य्याय त्वेत्याह देवेभ्य एवैतेन करोति। एनावतीर्वै देवतास्ताभ्य एवैनं सर्वाभ्य उपावहरति" इतितित्तिरिः ॥

"सोम राजन् विश्वास्त्वं प्रजा उपावरोह ।२।
विश्वास्त्वां प्रजा उपावरोहन्तु॥ ३ ॥

हे सोम ! राजन ! सर्वाः प्रजा अधितिष्ठ। इत्याह। २।

ततो ग्रावसु स्थापितं सोम विसृज्योपतिष्ठते। हे सोम ! सर्वाः प्रजाः त्वां प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिः प्राप्नुवन्तु इत्याह ॥ ३ ॥

"अभूदुषा रुशत्पशुरिति मन्त्रे होत्रा शस्यमाने चतुर्गृहीतमाज्यं प्रचरणीसंज्ञया स वा अध्वर्य्युरतिप्रणीते—जुहोति।

"शृणोत्वग्निः समिधा हवं मे
शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः।
श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं
शृणोतु देवः सविता हवं मे-स्वाहा ६।२६

अग्निः समित्पूर्विकया आहुत्या ममाह्वानं शृणोतु। आपः शृण्वन्तु। वाचो देव्यः

शृण्वन्तु । हे ग्रावाणः ! अभिषवार्थमिहोपस्थिता यूयं यज्ञं शृण्वन्तो विद्वांस इव ममाह्वानं शृणुत । सविता देवो ममाह्वान शृणोतु । सुहुतमस्तु—इत्याह ॥

यच्चतुर्गृहीतमाज्य सहनीतं तज्जले गत्वा जुहोति ।

देवीरापो प्रपांनपाद् यो व ऊर्मिर्हविष्य
इन्द्रियावान् मदिन्तमः ।
तं देवेभ्यो देवत्रा दत्त शुक्रपेभ्यो-
येषां भागस्थ स्वाहा । ६ । २७ ।

हे आपो देव्यः ! युष्माकमपत्यरूपो यो ऽयमूर्मिः हविष्य इन्द्रियवीर्य्यवृद्धिकारी तर्पयितृतमश्च तं देवान् प्रति यायिन शुक्रादिसोमंग्रहपातृभ्यः । दीप्तसोमपातृभ्यो वा देवेभ्यः प्रयच्छत । येषां देवानां यूयं भागरूपा भवथ। इदमाज्यं युष्मभ्यं हुतमस्तु-इत्याह ॥

ग्रहीष्यमाणानामपां मूल्यभूतयमाहुतिरित्याह तित्तिरिः ।

"देवीरापो अपांनपादित्याह आहुत्या वै निष्क्रीय गृह्णातीति" ॥

अप्सु हुतमाजं मैत्रावरुणचमसेन दूरीकरोति हे आज्य ! त्वम्—

कार्षिरसि ।

आकृष्टोऽसि देवतया भक्षितोऽसीत्याह । यद्वा अन्तर्गतशमलापनेतासि इत्याह ॥

अथ-मैत्रावरुणचमसेन तडागादिस्था अपो गृह्णाति । हे जल !

"समुद्रस्य त्वा क्षित्या उन्नयामि ।

आपो वै समुद्र इति श्रुतेः" ३ । ६ । ३ ।२७। वसतीवरीलक्षणस्य समुद्रस्य अक्षीणत्वाय त्वां गृह्णामि इत्याह ॥

जलाशयात् प्रत्यागत्य चात्वालोपरि मैत्रावरुणचमसस्था अपो वसतीवरीभिः संयोजयति—

"समापोअद्भिरग्मत, समोषधीभिरोषधीः ६ । २८ ।

मैत्रावरुणचमसस्था आपो वसतीवरीभिरद्भिः संगच्छन्ताम् । मुद्गमसूरादिका ओषधयो व्रीहियवादिभिरोषधीभिः संगच्छन्ताम् इत्याह ॥

अग्निष्टोमसंस्थे क्रतौ प्रचरणीपात्रलिप्तमाज्यशेषं जुहुयात् शेषाज्यस्य होमपर्य्याप्त्यभावे चतुर्गृहीतमादाय जुहोति—

"यमग्ने पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः ।
स यन्ता शश्वतीरिषः स्वाहा ॥१ ॥ ६ । २९ ।

हे अग्ने ! संग्रामेषु यं मनुष्यं रक्षसि । तथा हविर्लक्षणान्ननिमित्तं यं पुरुषं गच्छसि । स मर्त्यस्त्वदनुग्रहेण नित्यान्यन्नानि धनरूपाणि प्राप्स्यति । सुहुतमस्तु इत्याह॥१॥

"उक्थसंस्थे त्वनेन यमग्ने" इति मन्त्रेण आद्यं परिधिं स्पृशति । षोडशिसंस्थे रराटीं स्पृशति । अतिरात्रे छदिः स्पृशति । अन्यसंस्थासु हविर्धानं प्रविशति ॥

सोमाभिषवहेतुमश्मानं गृहीत्वा हिङ्कारात् प्राक् मौनी स्यात् । सोऽश्मा उपांशुसवनसंज्ञः । तेन हि उपांशुग्रहाय सोमः सूयते ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्या-
पूष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे रावासि गभीरमिममध्वरं—
कृधीन्द्राय सुषूतमम् ।
उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तः ॥

हे अभिषवसाधन ! पाषाण ! त्वमाहुतीनां दक्षिणानां च दाता भवसि। तत इमं मदीयं यागं गम्भीरं कुरु। उत्कृष्टेन वज्रसदृशेन त्वया अहं सोममिन्द्रार्थमभिषुततमं रसवन्तं मधुस्वादेन रसेनोपेत पयः स्वादुना च रसेनोपेतं सोमं कारोमीत्याह ॥

अभिषोतव्यस्य सोमस्य सेवनीया आपो निग्राभ्या उच्यन्ते। तासु गृह्यमाणासु वाचयेत्। यजमानश्च स्वोरसि निग्राभ्या निगृह्य ब्रूते। हे आपः ! यूयम्—

"निग्राभ्या स्थ देवश्रुतस्तर्पयत मा। ६। ३०
मनो मे तर्पयत, वाचं मे तर्पयत,
प्राणं मे तर्पयत, चक्षुर्मे तर्पयत,
श्रोत्रं मे तर्पयत, आत्मानं मे तर्पयत,
प्रजां मे तर्पयत, पशून्मे तर्पयत,
गणान् मे तर्पयत, गणा मे मा वितृषन् ६। ३१।

अस्माभिर्नितरां ग्रहीतव्या भवथ। यस्मादिन्द्रेणोरसि यूयं गृहीतास्ततो निग्राभ्याः देवेषु प्रख्याता यूय मां प्रीणयत। तथा मम मनो वाचं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं तर्पयत। तथा मम शरीरं पुत्रादिसंपत्ति गवादीन पशून् मनुष्यसंघांश्च तर्पयत। मदीया मनुष्यसंघा मया द्रव्यदानेन पूरिता अपि सन्तो विगततृष्णा मा भवन्तु, किन्तु ते मामपेक्षन्तामित्याह ॥

अथ तमुपांशुसवनमश्मानमधिषवणचर्म्मणि निधाय तदुपरि पञ्चमन्त्रैः पञ्चवारमभिषोतव्यसोममुष्टिं प्रक्षिपति। हे सोम !

"इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते। १।
इन्द्राय त्वा ऽऽदित्यवते। २।
इन्द्राय त्वा भिमातिघ्ने। ३।
श्येनाय त्वा सोमभृते। ४।
अग्नये त्वा रायस्पोषदे। ५।

वसुसंज्ञक प्रातः सवनदेवतायुक्ताय रुद्रनामक माध्यान्दिन सवन देवतायुक्ताय इन्द्राय त्वां मिमे ।१। हे सोम ! आदित्याख्य तृतीयसवनदेवतायुक्ताय इन्द्राय त्वां मिमे ।२। हे सोम ! शत्रुहन्त्रे इन्द्राय ।३। सोमाहरणकर्त्र्यै श्येनपक्षिरूपायै गायत्र्यै ।४। धनपुष्टिदात्रे अग्नये त्वां मिमे ।। ५ ।।

उपांशुसवने पञ्चवारं प्रक्षिप्तं सोममालम्भते ।

"यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत् पृथिव्यां यदुरावन्तरिक्षे ।
तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्यधि दात्रे वोचः ।१। ६ ।३३

हे सोम ! द्युलोके तव यत्तेजः, तथा विस्तीर्णे अन्तरिक्षे यत्तेजः, तेन तन्वाख्येय ज्योतिषा अस्य यजमानस्य यज्ञे ऋत्विजां दक्षिणादानाय विस्तीर्णं स्वशरीरं कुरु । किञ्च दात्रे यजमानाय कृत्स्नशरीरोऽहमागत इत्यधिकं ब्रूहीत्याह ।। यद्वा—हे सोम ! त्रिलोकेषु यत्त्वदीयं ज्योतिरस्ति । तेनज्योतिषा अस्मै यजमानाय धनेन समृद्धं विस्तीर्णं स्थानं कुरु । तथा फलदाय इन्द्राय अधिकोऽयं यजमानो भवत्विति ब्रूहीत्याह ।।

सोमस्योपरि होतृचमसेनैव निग्राभ्या आसिञ्चति, हे आपः ! यूयम्—

"श्वात्राः स्थ वृत्रतुरो राधोगूर्ता अमृतस्य पत्नीः ।
ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहूताः सोमस्य पिबत" ६ ।३४।

क्षिप्रकारिण्यः शिवा वा वृत्रासुरघातिन्यो धनदात्र्यः सोमस्य पालयित्र्यश्च भवथ । हे देव्यः ! तथा विधा यूयमिमं यज्ञं देवान् प्रतिप्रापयत । तथा यूय मनुज्ञाताः सत्यः सोमं पिबतेत्याह ।।

उपांशुसवनेनाश्मना सोमे प्रहरति । हे सोम ! त्वम्—

मा भेर्मा संविक्था, ऊर्जं धत्स्व, धिषणे
वीड्वी सती वीडयेथा मूर्जं दधाथाम् !
पाप्मा हतो न सोमः ॥ ६ । ३५ ।

मा भैषीः । कम्पनं च मा कृथाः । यतो देवतर्पणायाह त्वामभिषुणोमि अतो रसं धेहि । हे धिषणे ! द्यावापृथिव्यौ ! युवाम् दृढे सत्यावात्मानं दृढ कुरुतम् । तथा अस्मिन् सोमे रसं धत्तम् । अनेन तु वज्रसंस्तुतेन ग्राव्णा यजमानस्य पाप्मा हतो नतु सोमः इत्याह ॥

प्रतिप्रहारवर्गं होतृचमसमध्ये स्वल्पान् सोमांशून्निधाय यजमानं निग्राभं वाचयति । सोमो दिग्भिर्मिथुनमैच्छत् । तच्च देवा. समपाद्यन्त । तदेतदर्थबोधक मृग्द्वयं निग्राम मित्युच्यते । यथा—

प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु,
अम्ब निष्पर समरीर्विदाम् । १ । ६ । ३६ ॥
त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् ।
न त्वदन्यो मघवन्नस्ति मर्डितेन्द्र ब्रवीमि ते वचः । २ । ६ । ३७ ॥

हे सोम पूर्वाः, पश्चिमाः, उत्तराः, दक्षिणाः इत्येताः सर्वादिशः सर्वतः स्वस्वप्रदेशान् त्वामभिगच्छन्तु "हे मातः ! स्वैर्भागैः सोमं पूरय । प्रजाः संविदताम्"—इत्येवं मिथो भाषमाणा दिश आगच्छन्तु ॥ १ ॥

हे बलिष्ठ ! इन्द्र ! देवस्त्वं मनुष्यं यजमान प्रशंससि । किञ्च हे धनवन् ! इन्द्र ! त्वदन्यः सुखयिता न विद्यते । अतः हे इन्द्र ! तुभ्यमिदं वचनं ब्रवीमीत्याह ॥ २ ॥

॥ ❀ ॥ इति वसतीवरीणामपांसंग्रहणम् ॥ ❀ ॥

(अत्र शतपथ ब्राह्मणस्य तृतीयकाण्ड पूर्तिः ।)

॥ ❀ ॥ अथातो ग्रहसुत्यायाग उच्यते ॥ ❀ ॥



सुत्या सवः। अग्नि संयोगेन वायोर्दाहः सवः। दाह्यश्चेति वायुर्द्विधिः, अग्निरग्निं न दहतीत्यदाह्यावयव अग्नेयारुद्रा इति संज्ञायन्ते। ते चास्यां पृथिव्या मन्तरिक्षे दिवि च विभज्यत्रैलोक्ये विभवति। तत्र पुराण गार्हपत्यो नूतनगार्हपत्य इति गार्हपत्याग्नी द्वौ पार्थिवौ। अथ धिष्ण्याग्नयोऽष्ठावान्तरिक्ष्याः। आहवनीयाग्निरेको दिव्य इत्येव मेकाद-शोष्यन्ते। ते चामी उत्तरतश्चितिसंचिति विद्यायां धारयितव्याः। अथ येऽग्नि संयोगेन दाह्या वायव स्ते सौम्याग्रहा इति संज्ञायन्ते। ते च "षट्त्रिंशांश्च चतुरः कल्पयन्त" इति मन्त्र श्रवणाच्चत्वारिंशत्। तत्रापि- षट्त्रिंशदन्ये चत्वारोऽन्ये इति द्वेधाविभागः। तथाहि-

१	उपांशु ग्रहः	प्राण लक्षणः
२	उपांशुसवनग्रहः	व्यान लक्षणः
३	अन्तर्यामग्रहः	उदान लक्षणः

	ऐन्द्रवायवग्रहः	वागिन्द्रियलक्षणः
५	मैत्रावरुण ग्रहः	कामसमृद्धि साधनलक्षणः
६	आश्विन ग्रहः	श्रोत्रेन्द्रिय लक्षणः

७	शुक्र ग्रहः	चक्षुः पाटवलक्षणः
८	मन्थिग्रहः	,,

६	आग्रयण ग्रहः	जीव स्वास्थ्यलक्षणः
१०	उक्थ्य ग्रहः	देहारम्भक बलरूपः
११	ध्रुव ग्रहः	जीवनकाल लक्षणः

इति चतुर्दश प्रात सवनीयाः। ते पूत भृदाधवनीयाभ्यां षोड़शोक्ताः।

१२	पूतभृद्ग्रहः	सर्वविध प्रजालक्षणः
१३	आधवनीयग्रहः	,,

(१३+१२=२५)१४ ऋतु ग्रहा द्वादश (१२)–मधुमाधवौ, शुक्रशुची, नभोनभस्यौ, इषोर्जौ, सहसहस्यौ, तपस्तपस्यौ ॥

(१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ numbered over the names)

(२३) १५ ऐन्द्राग्न ग्रहः

(२७) १६ वैश्वदेवग्रहः—इति षोडश प्रातःसवनीयाः तेऽमी पूर्वाह्णे सूर्य्यरश्मिपूषलब्धाः संगृह्यन्ति। तदेतत् सवनाद्बहवो यजमानस्य कामाः साध्यन्ते ॥

उपांश्वन्तर्य्यामौ प्राणोदानौ

इन्द्रवायू इन्द्र तुरीया वाक्

मित्रावरुणौ क्रतूदक्षौ ब्रह्मक्षत्रे

श्रोत्रे अश्विनौ

चक्षुषी शुक्रामन्थिनौ

आत्मा आग्रयणः

आत्मैवोक्थ्यः स आयुः सोऽनिरुक्त आत्मा = अनिरुक्तः प्राणः

पुरस्तात् प्राणो वैश्वानरः । पश्चाद् ध्रुवः ।
ध्रुववैश्वानरौद्वौग्रहौ । यदवाचीनं नाभेरायुः स आत्मनः ।

शुक्रामन्थिनौ

आग्रयणः

(२८) १ मरुत्वतीयग्रहः

(२९) २ स शस्त्रमरुत्वतीयग्रहः

(३० ३ कुण्ड मरुत्वतीयग्रहः

(३१) ४ माहेन्द्रग्रहः—इति माध्यन्दिनीया ग्रहा । तेऽमी मध्याह्ने सूर्य्यरश्मि षूपलब्धाः संगृह्यन्ते । तत्सवनाच्च बहवो यजमानस्य कामाः सिध्यन्ति ।

आदित्यग्रहः

(३२) १ दधिग्रहः— दधिग्रहमिश्रित आदित्य ग्रहः ।

(३३) २ सावित्रग्रहः

(३४) ३ पत्नीवत ग्रहः-२

(३५) ४ वैश्वदेवग्रहः-१ महावैश्वदेवग्रहः

(३६) ५ हारियोजनग्रहः— इति पञ्चैते प्रातः सवनीयाः। तेऽमी सायाह्ने सूर्य्यरश्मिषूपलब्धाःसंगृह्यन्ते । तेषां सवनादपि यजमानस्य कामाः साध्यन्ते ॥

अथातिरिक्ताश्चत्वारो ग्रहाः—

(३७) १ षोडशिग्रहः

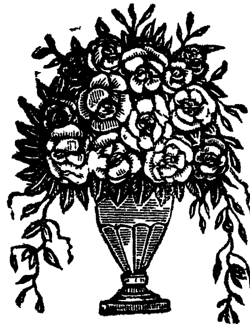
(३८) २ अतिग्राह्य ग्रहः (३)

(३९) ३ अंशुग्रहः

(४०) ४ अदाभ्य ग्रहः

॥ तदित्थं चत्वारिंशद ग्रहा व्याख्याताः ॥

इन्द्राग्नी प्राणोदानौ द्यावा पृथिवी । ऋतुषुहितौ ।



॥ ❀ ॥ अथोपांशुग्रहः ॥१॥ ॥ ❀ ॥

उपांशुग्रहं त्रिर्गृह्णाति, प्रतिमन्त्रमेकैकवारम्। हे सोम !

"वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः ।१।
देवो देवेभ्यः पवस्व येषां भागोऽसि । २ ।
मधुमतीर्न इषस्कृधि" ३ ॥ ७ । १

वर्षितुस्तव संबन्धिभ्यामंशुभ्यामध्वर्योः पाणिभ्यां च पूतस्त्वं प्राणाय गच्छ, यद्वा पतये देवाय वाचो मन्त्रेण शुद्धो भवेत्याह ॥ १ ॥

हे सोम ! देवः सन् तेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय प्रवर्तस्व येषां देवानां त्वं भागोऽसीत्याह ॥ २ ॥

हे सोम ! त्वमस्माकमन्नानि मधुरसोपेताः कुरु इत्याह ॥ ३ ॥

प्राणो वै वाचस्पतिरिति श्रुतिः । ४ । १ । १ । ६ ॥ पाणी वै गभस्ती इति श्रुतिः । ४ । १ । १ । ६ ॥"

आत्तानंशून् सोमे निदधाति ।

"यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम सोमाय स्वाहा,, ॥

हे सोम ! तव यद् अहिंस्यं जागरणशीलं नामास्ति सोमेति । हे सोम ! तादृश-नामवते तुभ्यं सोमाय सुहुतमस्तु इत्याह ॥

निष्क्रमति ।

"स्वाहा उर्वन्त रिक्ष मन्वेमि ॥ ७ । २ ।

विस्तीर्ण मन्तरिक्ष मनुगच्छामीत्याह ॥

उपांशुग्रह हुत्वा पात्रमार्जनं कुर्य्यात् । हे प्राणरूपोपांशुग्रह ! त्वम्—

"स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः ।
पार्थिवेभ्यो,मनस्त्वाष्टु,,स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय ॥"॥

सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः सकाशात् दिव्येभ्यो देवेभ्यः सकाशात् पार्थिवेभ्यो द्विपद-चतुष्पदेभ्यः सकाशात् स्वयमुत्पन्नोऽसि यस्त्वमेवमकृतकः स्वतन्त्रस्त त्वां मनः प्रजापति-र्व्याप्नोतु । हे सुभव उत्तमजन्मन् । ग्रह सूर्य्यार्थं त्वां सुजुहोमीत्याह ॥

यद्वा—हे प्राणरूप ! ग्रह ! देवजन्मनि स्थितेभ्यो मनुष्यजन्मनि स्थितेभ्यः सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो मया स्वीकृतोऽसि । मनश्च तेषामिन्द्रियाणामधीश्वरं त्वां व्याप्नोतु । हे सुभव प्राणरूपोपांशुग्रह ! तादृग्रूपं त्वां बहिःप्राणरूपाय सूर्य्याय स्वाहाकारेण जुहोमीत्याह ॥

प्राणो वा अस्यैष ग्रहः स स्वयमेव कृतः स्वयं जातः इति श्रुतिः ४ । १ । १ । २२॥ प्रजापतिर्वै मनः, प्रजापतिष्ट्वाश्नुताम् इति श्रुतिः ४ । १ । १ । २२ ॥ आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येन चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णीते इत्याथर्वणिक श्रुतिः ॥ स्वाङ्कृतो-ऽसीत्यास । प्राणमेव समकृत, विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यः दिव्येभ्यः पार्थिवेभ्य इत्याह । उभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणान् दधातीति तित्तिरिः ॥

पश्चिमस्थे परिधौ सोमलिप्तमुत्तानं पाणिं कृत्वा प्रागभिमुखं यथातथोन्मार्ष्टि । हे लेप !

देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः ।

मरीचिपालकेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां पारधौ माजमीत्याह ॥

नासउरोबाहुषु श्लिष्टं सोमांशुमभिचारार्थ जुहुयात् ।

देवांशो यस्मै त्वेडे तत्सत्यमु-परिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् ॥

हे सोमांशो ! देव ! यस्मै वधाय त्वां प्रार्थयामि तद्वधकर्म सत्यमस्तु । उपर्य्यागतेनामर्द्देन असौ द्वेषो निहतः सन् विशीर्णो भवतु इत्याह ॥

यस्मिन् प्रदेशे पूर्वमुपांशुपात्रं निहितं तत्रैवासादयेत् । हे उपांशुपात्र !

प्राणाय त्वा ।

प्राणदेवतासन्तोषार्थं त्वामासादयामीत्याह ॥

येनाश्मना सोमोऽभिषुतस्तमुपांशुसवनं पाणिना प्रमृज्योदगभिमुखग्रहसंलग्नं सादयेत् । हे उपांशुसवन !

व्यानाय त्वा ।

व्यानदेवताप्रीत्यर्थं त्वामासादयामीत्याह ॥

अथाऽन्तर्य्यामग्रहः ॥ २ ॥

उदिते सूर्य्येऽन्तर्य्यामग्रहं गृह्णीयात् । हे सोमरस ! त्वम्—

उपयाम गृहीतोऽसि ।
अन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम् ।
उरुष्य राय एषो यजस्य । ७ । ४ ।

ग्रहगृहीतोऽसि । हे मघवन् ! इन्द्र ! तादृशं रस ग्रहपात्रमध्ये निगृह्णीष्व । यद्वा-शत्रुभ्यो यथान्तर्धानं तथा नियमय । ततः सोमं पालय तथा धनानि पशून् वा रक्ष । अन्नानि आयजस्व, यद्वा प्रजा याजयस्वेत्याह ॥

अन्तस्ते द्यावापृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् ।
सजूर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्य्यामे मघवन् मादयस्व ॥ ७ ५ ।

हे मघवन् ! तवानुग्रहाद् द्यावापृथिवी अन्तर्दधामि । यद्वा—हे अन्तर्य्याम ! प्राणरूपापन्नस्य तव शरीरमध्ये द्यावापृथिव्यौ दधामि । किञ्च—विस्तीर्णमन्तरिक्षं द्यावापृथिव्योर्मध्ये स्थापयामि । हे मघवन् ! अवरः पृथिवीस्थानैः देवैः, परैश्चद्युस्थानैर्देवैः सहितः सन्नन्तर्य्यामे ग्रहे हर्षयस्वात्मानम् । इत्याह ॥

निश्शेषस्यैव होमस्तिष्ठतः-

स्वाङ्कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो देवेभ्यः ।
पार्थिवेभ्यो मनस्त्वाष्टु स्वाहा त्वा सुभव सूर्य्याय ॥

प्रथमे परिधौ न्युब्जेन पाणिना प्रत्यक्संस्थंमार्ष्टि । हे लेप !

देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्यः ।

अथ पात्रासादनम् । हे ग्रह !

उदानाय त्वा । ७ ६ ।

सादयामीत्याह ॥

अथ ऐन्द्रवायवग्रहः ॥ ३ ॥

ऐन्द्रवायवं गृह्णाति ।

आ वायो भूष शुचिपा उप नः
सहस्रं ते नियुतो विश्ववार ।
उपो ते अन्धो मद्यमयामि ।
यस्य देव दधिषे पूर्वपेयम् । १ । वायवे त्वा ॥

हे शुचिपाः ! पवित्रसोमपान ! त्वमस्माकं समीपे आगच्छ । हे विश्ववार ! सर्वव्यापक ! तवासङ्ख्याता वाहनभूता मृगाः सन्ति तैरागच्छ । किञ्च मादकं सोमलक्षणमन्नं तव समीपे गमयामि । हे देवः वायो ! यस्य सोमस्य प्रथमवषट्कारलक्षणपूर्वपानं त्वं धारयसि । हे सोमरस ! वायुदेवतार्थं त्वां गृह्णमीत्याह ॥

एकवारमर्द्धमादाय पृथक्कृत्य पुनरैन्द्रवायवं गृह्णाति ।

इन्द्रवायू इमे सुता उप प्रयोभिरागतम् ।
इन्दवो वामुशन्ति हि ।
उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वा ॥

हे इन्द्रवायू ! युष्मदर्थमिमे सोमा अभिषुताः । एतैः सोमरसरूपैरन्नैर्निमित्तैः समीपे युवामागच्छतम् । यद्वा—प्रयद्भिः शीघ्रैरश्वैरागच्छतम् । यस्मात् सोमाः युवां कामयन्ते । हे सोमरस ! त्वमुपयामेन पात्रेण वायुदेवतार्थं गृहीतोऽसि । इन्द्रवायुदेवतार्थं च त्वां गृह्णामीत्याह ॥

ग्रहग्रहणे पात्राद्बहिर्निर्गतं सोमं दशापवित्रेण मार्जयित्वा ग्रहसादनं करोति। हे पात्र!

एष ते योनिः। सजोषोभ्यां त्वा ॥ ७।८।

एष खरस्यैकदेशः तव स्थानम् अतोऽत्र समानप्रीतिभ्यमिन्द्रवायूभ्यां त्वां सादयामीत्याह ॥

अथ-मैत्रावरुणग्रहः ॥ ४ ॥

मैत्रावरुणं ग्रहं गृह्णीयात्।

अयं वां मित्रावरुणा सुतः सोम ऋतावृधा।
ममेदिह श्रुतं हवम् ॥
उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वा। ७।९।

हे मित्रावरुणौ! हे यज्ञस्य सत्यस्य वा वर्द्धयितारौ युवयोरर्थाय अयं सोमोऽभिषुतः। तस्मादस्मिन् यज्ञे ममैवाह्वानं युवां शृणुतम्। हे सोमरस! त्वमुपयामेन मैत्रावरुण ग्रहपात्रेण गृहीतोऽसि। मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां गृह्णामित्याह ॥

मैत्रावरुणपात्रे कुशद्वयमन्तर्द्धाय तत्र स्वं सोमरसं क्षीरेण मिश्रीकुर्यात् ॥

" राया वयं ससवांसो मदेम
हव्येन देवता यवसेन गावः ।
तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो ।
विश्वाहा धत्तमनपस्फुरन्तीम् ॥ १ ॥
एष ते योनिः । ऋतायुभ्यां त्वा ॥ ७ । १० ।

यया धेन्वा गृहे सत्या वयं धनेन सम्भक्ताः सम्पन्नाः सन्तो हृष्टाः स्याम । यथा हविषा संभक्ता । देवा हृष्यन्ति यथा वा घासेन गवाह्निकादिना गावो हृष्यन्ति । हे मित्रावरुणौ ! युवां तां धेनुमनन्यपुरुष संचारिणी मस्मभ्यं सर्वदा धत्तमित्याह ॥ १ ॥

हे ग्रहः एष तव स्थानम् । मित्रावरुणाभ्यामर्थे त्वां सादयामीत्याह ॥

ब्रह्म वा ऋतं ब्रह्म हि मित्रो, ब्रह्मो ह्यृतं, वरुण एवायुः इति श्रुतिः ॥

अथ–आश्विनग्रहः ॥ ५ ॥



आश्विनं गृह्णाति यजमानेऽन्वारब्धे वा ।

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती ।
तया यज्ञं मिमिक्षतम् ।

उपयामगृहीतोऽसि अश्विभ्यां त्वा ॥
एष ते योनिर्माध्वीभ्यां त्वा । ७ ११ ।

हे अश्विदेवौ ! मधुब्रह्मणोपनिषत्प्रशंसायुता सत्यप्रियवचनोपेता या युवकोर्वाक् अस्ति । तया वाचा हे अश्विनौ ! अस्मदीयं यज्ञं सेक्तु मिच्छतम् ॥ हे ग्रह ! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसी । अश्विभ्या मर्थे त्वां गृह्णामीत्याह ॥

हे ग्रह ! एष तव स्थानम् मधुब्राह्मणाध्येतृभ्यामश्विभ्यामर्थे त्वां सादयामीत्याह॥

"दध्यङ् ह वा आभ्यामाथर्वणो मधु नाम ब्राह्मणमुवाचेति श्रुतिः" ।४ । ५ । १ ।

अथ शुक्रग्रहः ॥ ६ ॥



विल्व पात्रेण वैकङ्कतेन वा शुक्रग्रहं गृह्णाति ! हे इन्द्र !

तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा ।
ज्येष्ठतातिं वर्हिषदं स्वर्विदम् ।
प्रतीचीनं वृजनं दोहसे धुनि ।
माशु जयन्तमनु यासु वर्द्धसे ।
उपयामगृहीतोऽसि शण्डाय त्वा ।
एष तेयोनिर्वीरतां पाहि ॥ १ ॥

त्वं यासु यज्ञक्रियासु पुनः पुनः सोमपानेन वृद्धिं प्राप्नोषि तासु चिरन्तनानां भृग्वादीनामिव पूर्वेषामृषीणां साध्यादीनामिव, सर्वेषां ऋषिपुत्राणामिव इदानीन्तनानां यजमानानामिव, बलवत् यज्ञफलं यजमानाय क्षारयसि त्वं ज्येष्ठप्रशस्य यज्ञेषु बर्हिषि सीदन्तं स्वर्गलोकवेत्तारम् आत्मनोऽभिमुखं शत्रुकम्पितारं शीघ्रं जयन्तं त्वां स्तुम इत्याह ॥ यद्वा—हे इन्द्र ! यस्त्वमस्मत्प्रतिकूलं वर्जनीयालस्याश्रद्धादिकं रिक्तीकरोषि । किञ्च यासु क्रियासु त्वदनुग्रहाच्छत्रून् कम्पयन्तं क्षिप्रकारिणं सम्यगनुष्ठानेन यजमानान्तराण्यतिशयानमेनं यजमानमनुसोमपानेन स्तुत्या च यस्त्वं वर्द्धसे तासु क्रियासु ज्येष्ठं यागे सन्निहितत्वेन तिष्ठन्तं यजमानाय दातव्यस्वर्गवेत्तारं तं त्वां पुरातना भृग्वादय इव, पूर्वे पित्रादय इव, अतीताः सर्वे यजमाना इव इदानीन्तना यजमाना इव च वयं स्तुमः । इत्याह ॥ हे सोम ! हे शुक्रग्रह ! त्वमुपयामेन गृहीतोऽसि । शुक्रपुत्राय शण्डनाम्नेऽसुराय त्वां गृह्णामि । हे ग्रह ! एष खरप्रदेशः तव स्थानम् । स त्वं यजमानस्य शूरत्वं पालय इत्याह ॥ ५ ॥

अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ शुक्रामन्थिग्रहाभ्यां यथाक्रममनुतिष्ठताम् । तत्प्रकारः । प्रोक्षिताभ्यां द्वाभ्यां यूपशकलाभ्यां महाप्रोक्षितौ द्वौ यूपशकलावादाय प्रोक्षिताभ्यां तयोर्ग्रहयोः क्रमेणाच्छादनं कृत्वा अप्रोक्षिताभ्यां ग्रहावपमृज्यात् । तत्र प्रोक्षितेन शकलेन ग्रहं पिधाय अप्रोक्षितेनाध्वर्युः शुक्रग्रहमपमार्ष्टि—

अपमृष्टः शण्डः ॥ २ ॥

शण्डनामकोऽसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रोऽपमार्जनीकृतः इत्याह ॥

ततोऽध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ क्रमेण शुक्रमन्थिलिङ्गमन्त्रेण हविर्धानमध्यान्निर्गच्छतः । तत्र शुक्रलिङ्गेनाध्वर्युर्निष्क्रामति हे शुक्रग्रह !

देवस्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्तु । ३ ।

शुक्रनामकग्रहस्थं सोम ये पिबन्ति ते देवाः त्वां यजतिस्थानं प्रापयन्तु इत्याह ॥

अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ वेदिपश्चाद्भागे अरत्नी संयोज्य ग्रहयोर्विसर्गमकुर्वन्तौ उत्तरवेदिश्रोण्योर्ग्रहौ सादयतः तत्र दक्षिणश्रोणावध्वर्युः शुक्रम्, उत्तरवेदिश्रोणौ तु प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं सादयति ॥ हे उत्तरवेदिश्रोणे ! त्वम्—

अना धृष्टासि । ४ । ७ । १२ ।

अनुपहिंसितासीत्याह ॥

अथाध्वर्युर्दक्षिणं यूपदेशं गच्छति हे शुक्रग्रह ! त्वम्—

सुवीरो वीरान् प्रजनयन् परी—
ह्यभिरायस्पोषेण यजमानम् । ५ ।

शोभनवीर्य्योपेतः सन् शौर्य्योपेतान् यजमानस्य भृत्यादीन् उत्पादयन् धनस्य पुष्टया यजमानमभिलक्ष्य परितो गच्छेत्याह ॥

अध्वर्यु प्रतिप्रस्थातारौ यूपपश्चिमभागे तत्तद्ग्रहवाचकपदलिङ्गेन मन्त्रेण अरत्न्योः सन्धानं कुर्य्याताम् । तत्राध्वर्युः शुक्रलिङ्गेन ।

सं जग्मानो दिवा पृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषा । ६ ।

द्युलोकेन भूलोकेन च संगच्छमानः–शुक्रो ग्रहः शुद्धदीप्त्या कृत्वा रूपं बिभर्ति इत्याह ॥

अथाध्वर्युरप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्यति ।

निरस्तः शण्डः । ७ ।

शण्डोऽयमसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रो यज्ञाद्बहिर्निक्षिप्तः इत्याह ॥

अध्वर्युराहवनीये प्रोक्षितं यूपशकलं प्रास्यति । हे यूपशकल ! त्वम्—

शुक्रस्याधिष्ठानमसि । ८ । । ७ । १३

शुक्रग्रहस्याधिकरणमसीत्याह ॥

यजमानो जपति —

अच्छिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्य्यस्य
रायस्पोषस्य ददितारः स्याम ॥ ९ ॥

हे दीप्यमान ! सोम ! अखण्डितस्य सन्ततस्य कल्याणप्रभावस्य तव दातारो वयं स्याम । धनपोषस्य च दातारो भवेम । यद्वा— हे सोम ! देव ! तव प्रसादाद्वयमखण्डितस्य सुप्रभावस्य धनपोषस्य दातारो भवेमेत्याह ॥

अथाध्वर्य्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपोभयपार्श्वयोः स्थित्वा पश्चिमाभिमुखौ जुहुयाताम् । तत्राध्वर्य्युरादौ शुक्रं, ततः प्रतिप्रस्थाता मन्थिनम् ।

सा प्रथमा संस्कृति र्विश्ववारा
स प्रथमो वरुणो मित्रो अग्निः । ७ । १४ ।
स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाँस्तस्मा इन्द्राय
सुतमाजुहोत स्वाहा ॥ १० ॥

यत्र सोमः सर्वै ऋत्विग्भिरनृत्विग्भिश्च व्रियते यत्र वा सोमः क्रियमाणः जगदुत्पत्तिबीजत्वाद्विश्वं वृणोति सोऽयं मुख्यः सोमसंस्कारो यस्येन्द्रस्य कृते क्रियते । तथा प्रसिद्धो वरुणो मित्रोऽग्निश्च यस्येन्द्रस्य प्रधानो भृत्यः । अयं चोत्कृष्टधीर्बृहस्पतिर्य्यस्येन्द्रस्य मुख्यो मन्त्री । तस्मै इन्द्राय । यद्वा— विश्वैर्देवैर्वरणीया सा समीचीना कृतिर्देवानां मध्ये

यस्येन्द्रस्य मुख्या। वरुणमित्र अयोऽपि स इन्द्र एव चेतनावान् बृहस्पतिरपि स इन्द्र एव। हे ऋत्विजः! तस्मै इन्द्राय अभिषुतं मोम स्वाहाकारेणाजुहोत। इत्याह ॥ ❀

अथ जपति —

तृम्पन्तु होत्रा मध्वो याः स्विष्टा याः सुप्रीताः
सुहुता यत् स्वाहा ॥ ११ ॥

होत्रा इति याज्याछन्दांस्युच्यन्ते। या होत्रा मधुस्वादस्य सोमस्य साधु इष्टाः सन्ति तद्धोमे नियुक्तत्वात् याश्च होत्राः सुष्ठुप्रीताः, यतः स्वाहाकारेण साधु होमार्थं नियुक्ताः। ताश्छन्दोऽभिमानिन्यो देवतास्तृप्ता भवन्तु इत्याह ॥

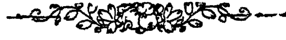
अध्वर्युर्होतृसमीपे प्रत्यङ्मुखस्तिष्ठति- होतुः कथयति च-

अयाडग्नीत् । १२ । ७ । १५ ।

अग्नीधा यागः कृत इति जानीहीत्याह ॥

❀ वस्तुतस्तु—इमौ अर्थौ न समीचीनौ। किन्तु—"इन्द्र एव सर्वस्य जगतः प्रथमः संस्कारः सर्ववस्तूत्पत्तौ प्रथममिन्द्रः प्रभवति ततोऽन्ये देवाः। ततः किञ्चिद्वस्तुजातं संभवति। तथा-इन्द्र एव प्रथमावस्थायां वरुणस्य मित्रस्याग्नेश्च। इन्द्र एवान्यथान्यथा विपरिवर्तमानो वरुणादिरूपेण संभवति। एवं वृहस्पतिरपि इन्द्रस्यैवापरः परिवर्तः। तस्मै इन्द्राय सोमं जुहोत हे मनुष्याः। सोमहवनेन स इन्द्रो वः प्रसीदेत्" ॥

अथ मन्थिग्रहः ॥ ७ ॥



अथ मन्थिग्रहं गृह्णाति ।

अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा
ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने ।
इममपां सङ्गमे सूर्य्यस्य
शिशुं न विप्रा मतिभी रिहन्ति ॥ १ ॥
उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वा ॥ ७ । १६ ।

अयं कान्तश्चन्द्र उदकस्य निर्माणकाले ग्रीष्मान्ते प्राप्ते विद्युल्लक्षणज्योतिर्वेष्टनः सन् द्युगर्भस्था रविस्था वा अपो वर्षति । तथाच अपां सूर्य्यस्य सङ्गमे निमित्ते इत्युदकसूर्य्यसमागमनिमित्तं वृष्टिगर्भनिष्पत्त्यर्थं ब्राह्मणा इमं सोमं स्तुवन्ति । यथा कश्चिद्बालकं कस्यचिद्वस्तुनो लाभाय स्तौतीत्याह (इत्यर्माधिदैवं सोमश्चन्द्रात्मना स्तुतः, अथाधियज्ञं लतात्मना स्तूयते) ।

"ता वै वहन्तीनां स्यन्दमानानां गृह्णीयाद्दिवा गृह्णीयादिति" श्रुतेः । अपां सूर्य्यस्य च सङ्गमे वसतीवर्य्य आपः सोमाभिषवार्थं गृह्यन्ते । तदाह सूर्य्यस्य अपां च संगमे गृहीताभिरद्भिरभिषुतमिमं सोम बालकमिव मतिपूर्वाभिः स्तोत्रशस्त्ररूपाभिर्वाग्भिर्लालयन्ति । ईदृश ! हे सोम ! त्वमुपयामेन ग्रहंपात्रेण गृहीतोऽसि । मर्काय शुक्रपुत्रायासुरपुरोहिताय त्वां गृह्णामि इत्याह ॥

अथैनं मन्थिग्रहं सक्तुभिः श्रीणाति, यवपिष्टैर्मिश्रीकरोति इति महीधरः ॥

"यद्यप्यत्राध्वर्य्युप्रतिप्रस्थातारौ समानकर्म्माणौ तथापि यः सक्तुभिः श्रपणं करोति स एव प्रधान इत्याशयः" इतिमहीधरः ॥

मनो न येषु हवनेषु तिग्मं
विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता ।
आ यः शर्य्याभिस्तुविनृम्णो
अस्या श्रीणीता दिशं गभस्तौ ॥ २ ॥

विप इति विपश्चितौ मेधाविनौ, अध्वर्य्यु प्रतिप्रस्थातारौ येषु सोमहोमेषु कर्म्मणा कृत्वा कर्म्मनिमित्तं वा मनइवोत्साहयुक्तं यथा स्यात्तथा युगपत् शुक्रामन्थिग्रहौ व्याप्नुतः । तेष्वेव कर्त्तव्येषु होमेषु प्रचरन्तौ । यश्च महादक्षिणत्वाद्बहुधनोऽध्वर्य्युः" पाणौ स्थितस्य अस्य मन्थिग्रहस्य प्रतिदिशं समन्तादङ्गुलीभिरश्रीणीत इत्याह ॥

अथ सादयति हे मन्थिग्रह !

एष ते योनिः प्रजाः पाहि ।

तव अयं प्रदेशोऽस्ति त्वं प्रजाः यजमानसंबन्धिनीः पालयेत्याह ॥ प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितेन यूपशकलेन मन्थिनमाच्छाद्य अप्रोक्षितेनापमार्ष्टि ।

अपमृष्टो मर्कः ।

मर्को नामासुरपुरोहितोऽपमार्जनीकृत इत्याह ॥

प्रतिप्रस्थाता हविर्धानान्निष्क्रामेत् । हे मन्थिग्रह !

देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्तु ।

मन्थिग्रहपानकर्तारो देवाः त्वां यजतिस्थानं प्रापयन्तु इत्याह ॥

हेउत्तरवेदिश्रोणे ! त्वम्—

अनाधृष्टासि ॥ ७ । १७ ।

प्रतिप्रस्थता उत्तरं यूपदेशं गच्छति हे मन्थिग्रह !

सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभि
रायस्पोषेण यजमानम् ॥

शोभनप्रजाशाली त्वं यजमानसम्बन्धिनीः प्रजाः उत्पादयन् धनस्य पुष्ट्या सह यजमानसम्मुखं परिगच्छ इत्याह ॥

प्रतिप्रस्थाता अरत्निं सन्धत्ते ।

सं जग्मानो दिवा पृथिव्या ।
मन्थी मन्थि शोचिषा ॥

मन्थी नाम ग्रहो द्युलोकभूलोकाभ्यां संगच्छमानः सन् मन्थिनः स्वस्यैव दीप्त्या यूपं विभर्त्ति—इत्याह ॥

प्रतिप्रस्थाता अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्येत् ।

निरस्तो मर्कः ।

प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं यूपशकलमाहवनीये प्रक्षिपेत् हे यूपशकल ! -त्वन्—

मन्थिनोऽधिष्ठानमसि ॥ ७ । १८ ।

मन्थिग्रहस्याधिकरणमसीत्याह ॥

॥❀॥ अथ आग्रयणग्रहः ॥ ८ ॥❀॥

धाराद्वये क्षरति सति आग्रयण ग्रहं गृह्णीयात्—

ये देवा दिव्येकादश स्थ पृथिव्या मध्येकादश स्थ ।
अप्सुक्षितो वहिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ॥१॥७।१६।
उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः ।
पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं ।
विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं
पाह्यभि सवनानि पाहि । १ । ७ । २० ।

हे देवाः स्वस्वमाहात्म्येन ये यूयं द्युलोके एकादशसंख्याका भवथ । पृथिव्युपरि एकादशसंख्याका भवथ । तथा ये यूयमन्तरिक्षनिवासिनः एकादशभवथ । हे देवाः ! ते त्रिविधा अपि यूयमिमं यजनीयमाग्रयणग्रहं सेवध्वमित्याह ॥ १ ॥

हे आग्रयणग्रह ! त्वमुपयामेन पात्रेण स्वीकृतोऽसि, आग्रयणनामा भवसि, श्रैष्ठ्यप्रापकश्च । स त्वं यज्ञं यजमानं च रक्ष । यज्ञाधिष्ठाता देवश्च स्वसामर्थ्येन त्वां पातु त्वमपि तादृशं विष्णुं पाहि । प्रातरादीनि सवनानि च सर्वतो रक्षेत्याह ॥

अथ त्रिर्हिङ्कृत्य जपति—

सोमः पवते सोमः पवते
ऽस्मै ब्रह्मणेऽस्मै क्षत्रायास्मै सुन्वते यजमानाय पवते ,
इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते ,
द्यावापृथिवीभ्यां पवते सुभूताय पवते,
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः । २ ।

ब्राह्मणार्थं क्षत्रियार्थं यजमानार्थं च, अन्नाय तदुपसेचनक्षीरादिद्रव्याय च, वृष्ट्यर्थं व्रीहियवादिसिद्ध्यर्थं च, लोकद्वयप्रीणनाय सर्वेषां साधुभवनाय च, सोमो ग्रहपात्रेषु, गच्छति स्वकीये कर्म्मणि प्रवर्तते वा । हे आग्रयणग्रह ! तादृशं त्वां सर्वदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीत्याह ॥

अथ सादयति हे आग्रयणग्रह !

एष ते योनिर्विश्वेभ्य स्त्वा देवेभ्यः । ७ । २१ ।

इदं तव स्थानं सर्वदेवताप्रीत्यर्थं त्वां सादयामीत्याह ॥

अथ उक्थ्यग्रहः ॥ ९ ॥

उक्थ्यं ग्रहं गृह्णीयात् ।

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते
वयस्वत उक्थाव्यं गृह्णामि ।

यत्त इन्द्र बृहद्वयस्तस्मै त्वा, विष्णवे त्वा।
एष ते योनि रुक्थेभ्यस्त्वा।

हे सोम! त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि हे उक्थ्यग्रह! बृहत्सामप्रियाय सोमरूपान्नवते वीर्य्योपेताय वा इन्द्राय मित्रावरुण—ब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकमम्ब्रनियशस्त्र-रक्षकं त्वां गृह्णामि॥ हे इन्द्र! यत् तव सोमरूपं महदन्नमस्ति तत्पानार्थं त्वां प्रार्थये॥ हे सोम! विष्णुदेवार्थं त्वां गृह्णामि। यद्वा—हे सोम? यदस्येन्द्रस्य महदूर्जितं यौवनलक्षणं तस्मै त्वां, यज्ञाय च त्वां गृह्णामीत्याह॥ १॥

हे उक्थ्यग्रह? इदं तव स्थानमुक्थेभ्योऽर्थाय त्वां सादयामीत्याह॥

अथोक्थ्यस्थानीस्थं सोम प्रशास्तृब्राह्मणाच्छंस्यच्छावाकानां स्वस्वयागसिद्धयर्थं त्रेधा विभज्य गृह्णाति। हे सोम?

देवेभ्यस्त्वा देवाव्यं गृह्णामि
यज्ञस्यायुषे गृह्णामि।७।२२।

देवतर्पक देवेभ्योऽर्थाय गृह्णामि। किञ्च अनवच्छिन्ना कर्म्मैकदोषरहिता परिसमाप्तिर्यज्ञस्यायुः, तस्मै फलपर्य्यन्तमवस्थानाय च त्वां गृह्णामीत्याह॥

अथवोक्थ्यविग्रहेऽधस्तनास्त्रयो मन्त्राः क्रमेण प्रशास्त्रे ब्राह्मणाच्छंसिनेऽच्छावाकाय च तत उत्तरे त्रयो मन्त्रा उक्थ्यादिसोमसंस्थेषु मैत्रावरुणादीनां तृतीयसवने उक्थ्यविग्रहविनियुक्ताः॥

मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि।१।

इन्द्राय त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । २ ।
इन्द्राग्निभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । ३ ।

इन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । १ ।
इन्द्राबृहस्पतिभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । २ ।
इन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवाव्यं यज्ञस्यायुषे गृह्णामि । ३ । ७ । २३ ।

अथ ध्रुवग्रहः ॥ १० ॥

ध्रुवसंज्ञं ग्रह गृह्णीयात्। तत्र वैश्वानरः स्तूयते—

मूर्द्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या
वैश्वानर मृत आ जातमग्नि ॥
कविं सम्राजमतिथिं जनाना
मासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । ॥ १ ॥ ७ । २४ ।

उपयाम गृहीतोऽसि, ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिः

ध्रुवाणां ध्रुवतमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमः । १ ।
एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा ॥

द्युलोकस्य शिरोवदुन्नतप्रदेशे सूर्य्यरूपेणावस्थाय भासकं, पृथिव्या उपरि दाह-पाकप्रकाशैरनवरतं वर्त्तमानम् अन्तरिक्षव्यापिनं, वा भुक्तान्नपाचकत्वात्सर्वनरहितं, यज्ञसमुत्पन्न क्रान्तदर्शनं, सम्यग्दीप्यमानं, यजमानानां हविर्भिः सत्कारयोग्यं, देवमुखे चममायितमग्निं देवाः अजनयन्तेत्याह ॥ १ ॥

हे सोम ! त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि ध्रुवनामकोऽसि, स्थिरनिवासः । ध्रुवाणामादित्यस्थाल्यादीनां मध्येऽतिशयेन स्थिरः, क्षरणशून्यानां मध्ये चातिशयेन च्युतिरहितपात्रनिवासी, भवसीत्याह ॥ १ ॥

हे ध्रुवग्रह ! इदं तव स्थानम्वैश्वानराश्रये त्वां सादयामीत्याह ॥

अथ ध्रुवपात्रस्थं सर्वं सोम होतृचमसेऽवनमयति ।

ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा सोममवनयामि ।
अथा न इन्द्र इद्विशोऽसपत्नाः समनसस्करत् ॥ ६ । २५ ।

एकाग्रेण मनसा मन्त्रोच्चारणप्रवणया वाचा ध्रुवग्रहेऽवस्थितं सोम होतृचमसेऽवसिञ्चामि । यद्वा—ध्रुवं ग्रहं सोमं होतृचमसस्थं प्रत्यवनयामि । तदनन्तरमिन्द्र एवास्माकं प्रजाः शत्रुशून्याः स्थिरमनस्काः करोतु-इत्याह ।

अभिषवे ग्रहणे च पतितानां सोमविन्दुनां ग्रहणाशक्यत्वात् तत्प्रत्यवायपरिहाराय क्रियमाणं विप्रुड्ढोमं नाम घृतहोमं मध्वर्य्वादयो जुह्वति । हे सोम !

यस्ते द्रप्सः स्कन्दति यस्ते अंशुर्ग्रावच्युतो धिषणयोरुपस्थात् ।
अध्वर्य्योर्वा परिवा यः पवित्रात् तं ते जुहोमि मनसा वषट्कृतं स्वाहा ॥

यस्तत्र रसैकदेशो भूमावन्यत्र वा पतति यश्च तत्र खण्डो ग्राव्णः सकाशात् पतितः। यश्चाधिषवणफलकयोरुत्सङ्गात् पतति। अध्वर्योः सकाशाद्वा पवित्राद्वा यतः कुतश्चित् परिस्कन्दति, तं तत्र द्रप्समंशुं च मनसा सकल्पितं स्वाहाकारेण जुहोमीत्याह॥

अध्वर्युणा वेद्यर्थे तृणे गृहीते, तयोरेकं चात्वाले प्रास्यति। हे चात्वाल! त्वम्—

देवाना मुत्क्रमणमसि। ७। २६।

देवास्त्वत्तः स्वर्गं गच्छन्तीत्याह॥ तथा च श्रुतिः—

"अतो हि देवाः स्वर्गमुपोदक्रामन्" इति॥ ४। २। ५। ५।

अथावकाश संज्ञा मन्त्रा उच्यन्ते तान् वाचयन् ग्रहणक्रमेण ग्रहान् यजमानं दर्शयति।

१–प्राणाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। १–उपांशुम्।
२–व्यानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। २–उपांशुसवनम्।
३–उदानाय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। ३–अन्तर्यामम्।
४–वाचे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। ४–ऐन्द्रवायवम्।
५–क्रतूदक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। ५–मैत्रावरुणम्।
६–श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। ६–आश्विनम्।
७–चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्। ७–शुक्रामन्थिनौ ७।२७।
८–आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। ८–आग्रयणम्।
९–ओजसे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। ९–उक्थ्यम्।
१०–आयुषे मे वर्चोदा वर्चसे पवस्व। १०–ध्रुवम्।
११-विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो वर्चोदसौ वर्चसे पवेथाम्॥ ११–अम्भृणौवैश्वदेवौ ७।२८।

१	हे उपांशो !	मम प्राणाय	प्रवर्तस्व ।
२	हे उपांशुपवन !	मम व्यानाय	प्रवर्तस्व ।
३	हे अन्तर्याम !	ममोदानाय	प्रवर्तस्व ।
४	हे ऐन्द्रवायव !	मम वागिन्द्रियाय	प्रवर्तस्व ।
५	हे मैत्रावरुण !	मम आत्मसमृद्धिमावनाय	प्रवर्तस्व ।
६	हे आश्विन !	मम श्रोत्रेन्द्रियाय	प्रवर्तस्व ।
७	हे शुक्रामन्थिनौ !	मम चक्षुषोःपाटवाय	प्रवर्तस्व ।
८	हे आग्रयण !	मम जीवस्वास्थ्याय	प्रवर्तस्व ।
९	हे उक्थ्य !	मम देहारम्भकबलरूपाय	प्रवर्तस्व ।
१०	हे ध्रुव !	मम जीवनकालाय	प्रवर्तस्व ।
११	हे पूतभृदाधवनीयौ !	मम सर्वाभ्यःप्रजाभ्यः	प्रवर्तेथाम् ।

यथा मे प्राणो वर्चस्वी भवेत् तथा वर्चो देहि यतस्त्वं वर्चोदा असीत्याह । वर्चो नाम औढक्षमस्तेजो वशेणः ॥

अथ द्रोणकलशमवेक्षते । हे द्रोणकलश ! त्वम्—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि ।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपाम ॥

प्रजापतिरसि अतिशयेन प्रजापतिरसि । प्रजापतेरसि । प्रजापतिनामासि । यस्य तव नाम वय विजानीमः । य च द्रोणकलशरूपं त्वां सोमेन वयमतीतृपाम-स त्वमस्मानपि विदितनाम्नः कुरु,तर्पय च कामैरित्याह ॥

अथ जपति—

भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्यां,
सुवीरो वीरैः, सुपोषः पोषैः । ७ । २९ ।

हे अग्निवायुसूर्याः ! सर्वाचीनाः प्रजाः शोभनः पुत्र सुष्ठु च धनसम्पत्तयो मे जायेरन् इत्याह ॥

अथ ऋतुग्रहः ॥ ११ ॥

अथ द्वादशमन्त्राः, षड् वा मन्त्रयुग्माः, तेषु पूर्वः पूर्वोऽध्वर्य्योरुत्तरउत्तरः प्रतिप्रस्थातुः । इत्येवक्रमेण द्रोणकलशाद् ऋतुग्रहैरनुष्ठितः । हे ऋतुग्रह !

उपयामगृहीतोऽसि	मधवे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	माधवाय	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽसि	शुक्राय	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	शुचये	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽसि	नभसे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	नभस्याय	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽसीषे	त्वा		१
उपयामगृहीतोऽस्यूर्जे	त्वा		२
उपयामगृहीतोऽसि	सहसे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	सहस्याय	त्वा	२

उपयामगृहीतोऽसि	तपसे	त्वा	१
उपयामगृहीतोऽसि	तपस्याय	त्वा	२
उपयामगृहीतोऽस्यंहसस्पतये		त्वा	१७ । ३०

मधुमाधवौ वासन्तौ—शुक्रशुची ग्रीष्ममासौ—नभोनभस्यौ वार्षिकौ—इषोर्जौ शारदौ—सहःसहस्यौ हैमन्तौ—तपस्तपस्यौ शैशिरौ । अंहसस्पतिर्मलमासः ॥

तत्राध्वर्युर्यदीच्छेत्तर्हि त्रयोदशमृतुग्रहं गृह्णीयादित्यैच्छिकविकल्पमिच्छन्ति ॥

अथ ऐन्द्राग्नग्रहः ॥ १२ ॥

प्रतिप्रस्थाता ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति ।

इन्द्राग्नी आगतं सुतं गीर्भिर्नभो वरेण्यम् ।
अस्य पातं धियेषिता । १ ।
उपयामगृहीतोऽसि इन्द्राग्निभ्यां त्वा । १ ।
एष ते योनिरिन्द्राग्निभ्यां त्वा ॥ २ ॥ ७ । ३१ ।

हे इन्द्राग्नी ! त्रयीलक्षणाभिर्वाग्भिरादित्य इव वरणीयं यद्वा स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिर्युत स्वर्गस्थैर्देवैः प्रार्थनीयं चेममभिषुतं सोमं प्रति आगच्छतम् । किञ्च यजमानबुद्ध्या प्रार्थितौ

युवामस्य सोमस्य सम्बन्धिनं स्वमशं पिबतम् ॥ हे सोम ! उपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि ! हे ग्रह ! इन्द्राग्निभ्यामर्थे त्वां गृह्णामि । १ ।

इदं तव स्थानम् । इन्द्राग्निभ्यामर्थे त्वां सादयामि इत्याह ॥ २ ॥

अथैन्द्राग्नग्रह एव शाखान्तरेण मन्त्रविकल्पः—

आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुषक्
येषामिन्द्रो युवा सखा । १ ।
उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वा । १ ।
एष ते योनिरग्नीन्द्राभ्यां त्वा ॥ २ ॥ ७ । ३२ ।

ये यजमाना अग्निमादीपयन्ति इष्टिपशुसोमचातुर्मास्यैर्यजन्ति । ये चानुपूर्व्येण बर्हिराच्छादयन्ति । तथा येषां यज्वनां जरामृत्युरहित इन्द्रो मित्रवदुपकारकः । तेषां यज्ञे हे सोम ! त्वमुपयामेन ग्रहेण स्वीकृतोऽसीत्याद्याह ॥

अथ वैश्वदेवग्रहः ॥ १३ ॥

अध्वर्यौ यज्वनान्वारब्धेऽस्पृष्टे वा सति द्रोणकलशात् शुक्रपात्रेण वैश्वदेव ग्रहं गृह्णीयात् ।

ओमासश्चर्षणीधृतो विश्वे देवास आगत ।
दाश्वांसो दाशुषः सुतम् । १ ।

उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ।
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः ॥ २ ॥ ७ । ३३ ।

हे विश्वेदेवाः ! रक्षितारो रक्षणीया वा, तर्पयितारस्तर्पणीया वा, मनुष्यपोषका मनुष्यधृता वा, तथा अभिषुतं सोम दत्तवतो यजमानस्य कामान् पूरयन्तो यूयमागच्छत। हे सोम ! विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि, इदं तव स्थानमत्र त्वां सादयामीत्याह ॥

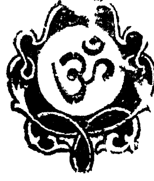
अत्र वैश्वदेवग्रहणे मन्त्रान्तरविकल्पः—

विश्वे देवास आगत शृणुता म इमं हवम्
एदं बर्हिर्निषीदत ॥ १ ॥
उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वादेवेभ्यः ।
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः २ । ७ । ३४ ।

हे विश्वेदेवाः ! यूयमस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छत । आगत्य च ममेदमाह्वानं शृणुत । श्रुत्वा च अस्य मदीयबर्हिष उपर्य्युपविशत, हे साम ! त्वमुपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि विश्वेभ्यो देवेभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामि । इद तव स्थानं, विश्वेभ्योदेवेभ्योऽर्थाथ त्वां सादयामीत्याह ॥

॥ एते प्रातः सवनग्रहाः पूर्णाः ॥





१	उपांशु ग्रहः	१
२	उपांशुसवन ग्रहः	२
३	अन्तर्याम ग्रहः	३

——

४	ऐन्द्रवायव ग्रहः	१
५	मैत्रावरुण ग्रहः	२
६	आश्विन ग्रहः	३

——

७	शुक्र ग्रहः	१
८	मन्थी ग्रहः	२

——

९	आग्रयण ग्रहः	१
१०	उक्थ्य ग्रहः	२
११	ध्रुव ग्रहः	३

——

१२	पूतभृद् ग्रहः	१
१३	माधवनीय ग्रहः	२

——

(२५)१४	ऋतुग्रहा द्वादश	१२
(२६)१५	ऐन्द्राग्न ग्रहः	१
(२७)१६	वैश्वदेव ग्रहः	२

——



॥ * ॥ अथ माध्यन्दिन सवनग्रहा उच्यन्ते ॥ * ॥

तत्रादौ–मरुत्वतीयग्रहः ॥ १ ॥

त्रयो मरुत्वतीयाग्रहाः । तत्र ऋतुपात्रेण प्रथमं गृह्णीयात् ।

इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमं, यथा शार्य्याते अपिवः सुतस्य ।
तव प्रणीती तव शूर शर्म्मन्नाविवासन्ति कवयः सुयज्ञाः ॥ १ ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते । १ ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । २ ॥ ७ । ३५ ।

मरुद्भिः सहित ! हे इन्द्र ! यथा शर्य्यातिनाम्नो राज्ञः सबन्धिनि यज्ञे अभिषुतस्य सोमस्यांशं पीतवानासीः, तथा इहास्मदीये यज्ञे सोमं पिव । किञ्च–हे शूर ! वीर ! तव प्रणयनेन कल्याणयज्ञाः क्रान्तदर्शनाः तव सुखनिमित्ते तव यज्ञगृहे वा त्वां परिचरन्ति इत्याह ॥ १ ॥

हे सोम ! उपयामपात्रेण स्वीकृतोऽसि । मरुत्वते इन्द्राय त्वां गृह्णामि । इदं ते स्थानम् । इन्द्राय त्वां सादयामीत्याह ॥

रिक्तेन पात्रेण द्वितीयं सशस्त्रं मरुत्वतीयं गृह्णीयात् ।

मरुत्वन्तं वृषभं वावृधानमकवारिं दिव्यं शासमिन्द्रम् ॥
विश्वासाहमवसे नूतनायोग्रं सहोदामिह तं हुवेम ॥ २ ॥

उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ १ ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते ॥ २ ॥

मरुद्गणोपेतं, जलवर्षितारं, वर्द्धनस्वभाव,मकुत्सितशत्रुमुत्कृष्टैश्वर्य्यं वा, द्युलोकस्थं, दुष्टानां शासितारं प्रशामनवन्त वा, अनलसं स्वधर्म्मेन्युतस्य सर्वस्याभिभवितार वा, नूतनाय यजमानरक्षणाय उद्गूर्णवज्रं बलप्रदं तमिन्द्रमिहास्मदीये यज्ञे वयमाह्वयाम इत्याह ॥२॥

ऋतुपात्रेण तृतीयं कुण्ठमरुत्वतीयं गृह्णीयात् ।

उपयामगृहीतोऽसि मरुतां त्वौजसे । १ । ७ । ३६ ।

हे मरुत्वतीयग्रह ! मरुतां देवानां बलाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥ स्वबल निधाय इन्द्रं मत्यागता मरुतोऽनेन ग्रहेण गृहीतेन सबला जाता इति श्रूयते ॥ १ ॥

अपरमपि मरुत्वतीयग्रहणे मन्त्रद्वयमुपदिशन्ति ।

सजोषा इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब बृत्रहा शुर विद्वान्
जहि शत्रूं रपमृधो नुदस्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो न । १ ।
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । ७ । ३७ ।

मरुत्वां इन्द्र वृषभो रणाय पिबा सोममनुष्वधं मदाय ।
आसिञ्चस्व जठरे मध्व ऊर्म्मिं त्वं राजासि प्रतिपत्सुतानाम्
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वते ।
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वते । ७ । ३८ ।

हे इन्द्र ! हे शूर ! वीर ! सन्तुष्टः सन् मरुद्गणसहितस्त्वं वृत्र हनिष्यन् शत्रुहननक्रियां जानानश्चेमं सोमं पिव । शत्रून् मारय सङ्ग्रामादपनुदस्व । तथाचास्माकं रिपुहननाद्भयं सर्वतः कुरु इत्याह ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! मरुद्गणसयुक्तो जलवर्षिता च त्व सङ्ग्रामाय मदाय सोमं पिव । यस्य सोमस्य पश्चात् पुरोडाश-धानामन्थ-दधिपयस्यालक्षणानि स्वधा भवन्ति । सोमपानेन च मधुर स्वादोपेतस्य तस्य कल्लोलमुदरे आमिश्रस्व । यतस्त्वमेव प्रतिपत्प्रभृतिषु तिथिषु अभिषुतानां सोमानामीश्वरोऽसीत्याह ॥ २ ॥

॥ ❋ ॥ अथ माहेन्द्रग्रहः ॥ २ ॥ ❋ ॥

अथ माहेन्द्र ग्रहं शुक्रपात्रेण गृह्णीयात् ।

महाँ इन्द्रो नृवदा चर्षणिप्रा उत द्विबर्हा अमिनः सहोभि ।
अस्मद्र्यग्वावृधे वीर्य्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्त्तृभिर्भूत् ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वा ।
एष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा । ७ । ३९ ।

राजादिमनुष्यवत् समन्तात् मनुष्यानभीष्टकामैः पूरयिता, अपि च द्वयोरपि मध्यमोत्तमयोः स्थानयोः परिवृद्धः, अमितबलश्चायं महानिन्द्रः अस्मदभिमुखो वीरक-

र्म्मणे वर्द्धते । वर्द्धमानश्च स इन्द्रः—यशसा विपुलः, बलेन विस्तृतः, कर्तृभिर्यजमानैः सत्कृतो भवतु । इत्याह ॥ ३ ॥

अथ वा इमं मन्त्रं प्रयुज्य गृह्णीयात्—

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ । इव ।
स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे । १ ।
उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वा ।
एष ते योनिर्महेन्द्राय त्वा । ७ । ४० ।

यः तेजसा महानिन्द्रो वर्षन्मेघ इव वत्सस्थानीययजमानस्य स्तोत्रैः वर्धते इत्याह ॥१॥

वस्त्रबद्ध सुवर्ण जुह्वां निधाय शालाद्वार्य्येऽग्नौ चतुर्गृहीताज्येन दाक्षिणसंज्ञं होमं कुर्य्यात् ॥

उदु त्यं जातवेदसं देव वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्य्यम्—स्वाहा । ७ । ४१ ।

रश्मयो जगद्द्रष्टुं ज्ञानजनकं धनजनकं वा तं सूर्य्यं देवमुद्वहन्ति । तस्मै सुहुतमस्तु इत्याह ॥

चतुर्गृहीतेनैव शालाद्वार्य्ये द्वितीयामाहुतिं जुहोति ।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य्यं आत्मा
जगतस्तस्थुषश्च—स्वाहा । ७४ । २ ।

द्योतनस्वभावानां किरणानां पुञ्जरूपो मित्रादीनां सर्वेषामेव देवमनुष्याणां रूपप्रकाशकश्चायं सूर्य्यः आश्चर्य्य यथा तथा उदयमगमत्। उद्गतश्च पुनः स्वतेजसा दिवं भूमिं चान्तरिक्षं चापूरितवान्। अयमेव च सूर्यो जङ्गमस्य स्थावरस्य चास्य सर्वस्यान्तर्यामी भवतीत्याह ॥ २ ॥

तत आग्नीध्रीयेऽग्नौ सकृद्गृहीतमाज्यं जुहोति।

अग्ने नय सुपथा राय अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम, स्वाहा।१।७।४३।

आग्नीध्रीये एव द्वितीयामाहुतिं जुहोति।

अयं नो अग्निर्वरिवस्कृणोत्वयं मृधः पुर एतु प्रभिन्दन्।
अयं वाजान् जयतु वाजसातावयं शत्रून् जयतु जर्हृषाणः, स्वाहा २।७।४४।

सहिरण्यो यजमानः शालां पूर्वेण तिष्ठन् बहिर्वेदि दक्षिणतस्तिष्ठन्तीर्दक्षिणा गा अभितन्त्रयते।

रूपेण वो रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु
ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणाः।

हे दक्षिणारूपा गाः! मर्त्या युष्माकं रूपमहमभ्यागतोऽस्मि। (सर्वे हि स्वस्वरूपभागच्छन्तीत्यतो भवतीभिरप्यागन्तव्यम्)। किञ्च—सर्वज्ञो ब्रह्मरूपः प्रजापतिर्युष्मान् यथायोग्यमृत्विग्भ्यो विभज्य ददातु॥ तदेतज्ज्ञात्वा च यूयं सुवर्णं यजमानहस्तस्थं द्वितीयं दक्षिणा यासां तथाविधाः सत्यो यज्ञस्य मार्गेण प्रगच्छत इत्याह॥

पूर्वं पशवः स्वदानमसहमाना रूपान्तराणिजगृहुः, ततो देवाः स्वैरूपैस्तानुपागताः। ततस्ते स्वैरूपैराजग्मुरिति मन्त्रवक्तव्यं श्रूयते (४।३।४।१४॥)

अथ सदोगच्छन् ब्रूते । हे दक्षिणाः !—

वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षम् ।

भवतीभिः सोपानभूताभिरहं देवयानमार्गं विपश्यामि पितृयाणमार्गं च विपश्यामीत्याह ॥

अथासौ यजमान ऋत्विजः प्रेक्षते । हेदक्षिणे ! त्वम्—

यतस्व सदस्यैः । ७ । ४५ ।

तथा यत्न कुरु येन ऋत्विग्भिः पूरितैरप्यतिरिच्यसे इत्याह ॥

ततः स्वस्थानस्थमाग्नीध्रमृत्विजं प्रति यजमानो गच्छति ।

ब्राह्मणमद्य विदेयं पितृमन्तं पैतृमत्य
मृषिमार्षेयं सुधातु–दक्षिणम् ॥

अहमद्य, यस्य प्रशस्तः पिता यस्य च प्रशस्तः पितामहः तथाविधं मन्त्राणां व्याख्यातारं ऋषिषु विख्यातं सुवर्णदक्षिणायोग्यं ब्राह्मण लभेय—इत्याह ॥

उपविश्य तस्मै आग्नीध्राय हिरण्यं ददाति ! हे दक्षिणाः !

अस्मद्राता देवत्रा गच्छत प्रदातारमाविशत ॥ ७ । ४६ ।

अस्माभिर्दत्ता देवान् प्रति गच्छत । ततः पुनर्यज्ञफलं साधयन्त्यो यजमानं प्राविशत–इत्याह ॥

ततोऽध्वर्य्युप्रतिप्रस्थातारौ चतुर्भिर्मन्त्रैः क्रमेण हिरण्यं गां वस्त्रमश्वं प्रतिगृह्णीतः ॥

अग्नये त्वा मह्यं वरुणो ददातु—सोऽमृतत्वमशीय
आयुर्दात्र एधि— मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । १ ।
रुद्रायत्वा मह्यं वरुणो ददातु —सोऽमृतत्वमशीय
प्राणो दात्र एधि— वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । २ ।
बृहस्पतये त्वा मह्यं वरुणो ददातु—सोऽमृतत्वमशीय
त्वग् दात्र एधि-मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । ३ ।
यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु— सोऽमृतत्वमशीय
हयो दात्र एधि-वयो मह्यं प्रतिग्रहीत्रे । ४ । ७ । ४७ ।

हे हिरण्य ! वरुणस्त्वामग्निरूपापन्नाय मह्य ददातु । अनेन विधिना गृह्णानः सोऽहमारोग्यं व्याप्नुयाम् । हेहिरण्य ! त्वं दात्रे जीवनं भव, प्रतिग्रहीत्रे मह्यं तु सुखं भवेत्याह ॥ १ ॥ एवं हे गौः ! गोदात्रे यजमानाय प्राणरूपा भव, मह्यं तु त्वमन्नं पशुर्वा भवेत्याह ॥ २ ॥ हे वासः ! त्वं यजमानाय त्वगिन्द्रियसुखकारी भव, मह्यं सुखं भवेत्याह ॥ ३ ॥ हे अश्व ! दात्रेऽश्वो भव, मह्यमन्नं पशुर्वा भवेत्याह ॥ ४ ॥ पूर्वं वरुणेन कनकाद्यग्न्यादिभ्यो दत्तमतःतेन तेनात्मना प्रतिगृह्णानो विप्रो न नश्यतीति देवतादेशः ॥

अथ तदन्यन्मन्थौदनतिलादि गृह्णीतः—

कोऽदात्, कस्मा अदात्,
कामोऽदात्, कामायादात्,

कामोदाता, कामः प्रतिग्रहीता,
कामैतत्ते ॥ १ ॥ ७ । ४८ ।

मनुष्येषु कः कस्मै ददाति । केवलं कामाभिमानी देव एव कामाभिमानिने देवाय सर्वत्र ददाति । तस्मात्सर्वत्र काम एव दाता, काम एव च प्रतिग्रहीता, नान्यः । हे काम ! एतद्द्रव्यं तव-इत्याह ॥ १ ॥

इत्थं माध्यन्दिनसवनगता मन्त्रा दक्षिणादानान्ताः उक्ताः ।



॥ अथ तृतीयसवनगता आदित्यग्रहादिमन्त्राः ॥



। आदित्यग्रहः ॥ १ ॥

द्विदेवत्यैः सह होमाय प्रतिप्रस्थाता आदित्यग्रहपात्रेण द्रोणकलशात् सोमं गृह्णाति । हेसोम ! त्वम्—

उपयामगृहीतोऽसि ।

द्विदेवत्यान् हुत्वा हुतशेषमादित्यस्थाल्यां क्षिपेत् । हेसोम !

आदित्येभ्यस्त्वा ।

आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां सिञ्चामीत्याह ॥

संस्रवमासिच्य तेनादित्यपात्रेण स्थालीं पिदधाति ।

विष्ण उरुगायैष ते सोमस्तं रक्षस्व मा त्वा दभन् । ८ । १ ।

हे विष्णो ! यज्ञपुरुष ! हे वहुस्तुत ! एष सोमस्तवार्पितः । तं सोमं गोपाय । हेसोम ! त्वां रक्षांसि मा हन्युरित्याह ॥

होमशेषाः संस्रवाः । तेभ्यः सकाशादादित्यग्रहं गृह्णाति ।

कदाचन स्तरीरसि नेन्द्र सश्चसि दाशुषे ।
उपोपेन्नु मघवन् भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्यते । १ ।
आदित्येभ्यस्त्वा ॥ ८ । २ ।

हे इन्द्र ! कदापि हिंसको नासि । हविर्दत्तवतो यजमानस्य समापे समीपे एव हविः सेवते । हे मघवन् ! पुनरेव च तव देवस्य देयं हविस्त्वया सबध्यते ॥ १ ॥ हे ग्रह ? आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥ १ ॥

धारातो विच्छिद्य पूतभृतः सकाशादात्मसमीपं नीत्वा तथैव पुनरादित्यग्रह गृह्णीयात् ॥

कदाचन प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी ।
तुरीयादित्य सवनं त इन्द्रियमातस्थावमृतं दिवि । २ ।
आदित्येभ्यस्त्वा ॥ ८ । ३ ।

हे आदित्य ! त्वं कदापि प्रमाद्यसि ? न कदापि । किञ्च–देवमनुष्यसम्बन्धिनी उभे जन्मनी नितरां पालयसि त्वं । हे आदित्य ! तव चतुर्थं मायातीतं शुद्धं जगत्प्रवर्त्तकम–नश्वरं यद्वीर्यं तद्द्युलोके मण्डलान्तरे आभिमुख्येन स्थितमित्याह ॥ यद्वा हे आदित्य ! त्वं कदापि न प्रमाद्यसि । किन्तु उभे वर्तमानभाविनी जन्मनी रक्षसि । हे आदित्य ! तव यत् तृतीयं सवनं तस्मिन् द्युलोकसमाने सवने इन्द्रियवृद्धिकरं सुधासम हविरातस्थौ ॥ हे आदित्यग्रह ! आदित्येभ्योऽर्थाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥

अथ दधिग्रहः ॥ २ ॥

एनमादित्यग्रह पश्चिमेऽन्ते मध्ये वा दध्ना मिश्रीकुर्य्यात् ।

यज्ञो देवानां प्रत्येति सुम्नमादित्यासो भवता मृड यन्तः

आ वोऽर्वाची सुमति र्व वृत्या दंहोश्चिद्या वरिवोवित्तरासत्
आदित्येभ्यस्त्वा ८। ४।

यज्ञो देवानां सुख कर्तुं प्रत्यागच्छति। अतो हे आदित्या! यूयं सुखयन्तो भवत। किञ्च-युष्माकमनुग्रहपरा बुद्धिरस्मदभिमुखी आवर्तताम्। तथा पापकारिणोऽपि या सुमतिः धनलब्धी भवेत् सा अस्मदभिमुखी आवर्तताम्। इत्याह। हे सोम! आदित्येभ्यस्त्वां दध्ना मिश्रयामीत्याह॥

उपांशुसवनेन पाषाणेन दधि सोमं च मिश्रयेत्।

विवस्वन्नादित्यैष ते सोमपीथस्तस्मिन्मत्स्व।

हे तमोविवासक! यद्वा—हे विशिष्टधनशालिन्! हे आदित्य! एष पात्रस्थस्तव पातव्यसोमः। तस्मिन् तृप्तिं कुरु—इत्याह॥

अथ पत्नी तमेनं पूतभृतं पश्येत्।

श्रदस्मै नरोवचसे दधातन,
यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः।
पुमान् पुत्रो जायते विन्दते वस्वधा,
विश्वाहाऽरप एधते गृहे॥ ८। ५।

हे ऋत्विग्यजमानाः! आशीर्दातारो यूयमस्मै आशीर्वचनाय श्रद्धां कुरुत। यत् जायापती पत्नी यजमानौ संभजनीयं यज्ञफलं प्राप्नुतः। इहैव च पुंस्त्वविशिष्टः पुत्रो जायते। स च धनं लभते। (अथा—अथ) धनलब्ध्यनन्तरं च सर्वदा निष्पापः सन् स्वगृहे वर्द्धते इत्याह॥

॥ अथ सावित्रग्रहः ॥ ३ ॥



सवनीयपुरोडाशेड़ां भक्षयित्वा सवनीयसम्बन्धि कर्म समाप्य उपांश्वन्तर्य्यामयोः पात्रयोरन्यतरेण सावित्रं ग्रह गृह्णाति ।

वाममद्य सवितर्वाममु श्वो
दिवे दिवे वाममस्मभ्यं सावीः
वामस्य हि क्षयस्य देव भूरे
रया धिया वामभाजः स्याम ॥ १ ॥ ८ । ६ ।
उपयामगृहीतोऽसि, सावित्रोऽसि, चनोधाश्चनोधाअसि,
चनो मयि धेहि । जिन्व यज्ञं जिन्व यज्ञपतिं,
भगाय देवाय त्वा सवित्रे ॥ २ ॥ ८ । ७ ।

हे सवितर्देव ! अस्मदर्थे अद्य वननीयं कर्म्मफलं प्रेरय । तथा उत्तरेद्यु रपि प्रेरय । ततोऽग्रेऽपि प्रतिदिनमस्मभ्यं वामं सावीः । यस्मात्किल अनया श्रद्धायुक्तया बुद्ध्या वयं संभजनीयस्य बहुकालीनस्य स्वर्गनिवासस्य सिद्धये वननीययज्ञकर्म्मानुष्ठातारो भवेमेत्याह ॥ १ ॥ हे सोम ! त्वमुपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽसि । हे ग्रह ! त्वं सवितृदेवत्योऽसि । अत्यन्तं चान्नस्य धारयितासि । अतोऽन्नं मयिस्थापय । किञ्च— यज्ञं प्रीणय । यजमानं च तर्पय । ऐश्वर्य्यादिगुणयुक्ताय सर्वप्राणिनां प्रसवादिकर्त्रे देवाय त्वां गृह्णामीत्याह ॥ २ ॥

॥ अथ वैश्वदेवग्रहः ॥ ४ ॥



अभक्षितेनैव सावित्रग्रहपात्रेण पूतभृतः सकाशान्महावैश्वदेवग्रहं गृह्णात्यध्वर्य्युः। हे वैश्वदेवग्रह ! त्वम्—

उपयामगृहीतोऽसि, सुशर्म्मासि सुप्रतिष्ठा, बृहदुक्षाय नमः।
विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥
एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्यः॥ ८। ८।

प्राणोऽसि। महते सेक्त्रे प्रजापतयेऽन्नं भवितुमर्हसि। विश्वेभ्यो देवेभ्यो ऽर्थाय त्वां गृह्णामि। तेभ्य एव च त्वां सादयामीत्याह॥

"प्राणो वै सुशर्म्मा सुप्रतिष्ठानः" "प्रजापतिर्वै बृहदुक्षः" ॥ इति च श्रुतिः। ४। ४। १। १९॥

॥ अथ पात्नीवतग्रहः ॥ ५ ॥

उपांश्वन्तर्य्यामपात्रयोरेकतरेण प्रतिप्रस्थाता पात्नीवतं ग्रहं गृह्णाति।

उपयामगृहीतोऽसि, बृहस्पति सुतस्य देव सोम त इन्द्रो
२॥
रिन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहाँ ऋध्यासम्॥ १॥

हे दीप्यमान ! हे सोम ! महते यज्ञकर्म्मणः पत्या यजमानेनाभिषुतस्य, यद्वा—बृहस्पतयो ब्राह्मणास्तैरभिषुतस्य रसरूपस्य वीर्य्यवतः पत्नीसयुक्तस्य तव सम्बन्धिनोऽन्यान ग्रहानुपांशुप्रभृतीनहं सयर्द्धयेयम् इत्याह ॥

प्रचरणीशिष्टेनाज्येन पात्नीवतग्रहं मिश्रयेत् ।

अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्य्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा यत् ॥ १ । ८ । ९ ।

अहं परमात्मरूपः सन् उपरि द्युलोकादौ अधस्तनभूलोकादौ च तिष्ठामि । यश्च मध्यवर्ती लोकः स मे पितृवत्पालको भवति । अहं परमात्मरूपः सन् परिष्टादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्य्यं पश्यामि । इन्द्रादीनां देवानां यदत्यन्तं गोप्ये हृदयेऽस्ति तदेवाहमस्मीत्याह ॥

पात्नीवतं ग्रहमग्नेरुत्तरभागे जुहोति—

अग्ना३ इ पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिव स्वाहा ॥

हे अग्ने ! हे पत्नीयुक्त ! त्वष्ट्रा देवेन सहितस्त्वं सोम पिव । सुहुतमस्तु इत्याह ॥

नेष्टा पश्चिमद्वारेण पत्नीं मदः प्रवेश्य उद्गातुरुत्तरतः स्थितां ताम् —"उद्गातारं पश्य" इति प्रेषयेत् । सा च तं पश्येत् ॥ हेउद्गातः ! —

प्रजापतिर्वृषासि, रेतोधा रेतो मयि धेहि ॥
प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधसो रेतोधा मशीय ८ । १० ।

प्रजानां पालकस्त्वं सेक्ता भवसि । वीर्य्यस्य धारयिता चासि । स त्वं मयि वीर्य्यं स्थापय । ततो वीर्य्यसेक्तुर्वीर्य्यस्य धारयितुः प्रजापतेस्तवानुग्रहात् प्रजोत्पादनसमर्थं पुत्रं प्राप्नुयाम् इत्याह ॥

॥ अथ हारियोजनग्रहः ॥ ६ ॥

आग्रयणाद् द्रोणकलशे हारियोजन गृह्णाति । हे ग्रह !

उपयामगृहीतोऽसि, हरिरसि हारियोजनो हरिभ्यां त्वा ॥

हरितवर्णोऽसि । हरी" इन्द्राश्वौ, तौ योजयितुरिन्द्रस्य सम्बन्धी चासि । तं त्वां ऋक्साममन्त्राभ्यां गृह्णामि । इत्याह ॥ "ऋक्सामे वै हरी । ऋक्सामाभ्यां ह्येनं गृह्णातीति श्रुतिः । ४ । ४ । ३ । ६ ॥

हारियोजने भ्रष्टयवान्निदध्यात् ।

हर्य्योर्धाना स्थ सहसोमा इन्द्राय ॥ ८ । ११ ।

सोमेन सहिता यूयमिन्द्रस्य हरितवर्णयोरश्वयोः सम्बन्धिनो भ्रष्टयवाः स्थेत्याह ॥

सर्वऋत्विजो धाना आदाय मन्त्रेणावघ्राय उत्तरवेदौ क्षिपन्ति । हे धानासहित ! सोम ! भक्षद्रव्य !

यस्ते अश्वसनिर्भक्षो यो गोसनिस्तस्य त इष्टयजुष-स्तुतस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूतस्योपहूतो भक्षयामि ८।१२।

यत् तव भक्षणमश्वदायकं, यच्च गोदायकम् । इष्टयजुषः, उद्गातृस्तुतस्तोत्रस्य, होतृशस्तशस्त्रस्य तस्य तवाभ्यनुज्ञातस्य तादृग् भक्षणमभ्यनुज्ञातोऽहं भक्षयामीत्याह ॥

अथ सर्वे प्रतिमन्त्रमग्नौ यूपशकलानि निदध्युः । हे शकल !

देवकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ १ ॥
मनुष्यकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ २ ॥
पितृकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ ३ ॥
आत्मकृतस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ ४ ॥
एनस एनसोऽवयजनमसि ॥ ५ ॥
यच्चाहमेनो विद्वांश्चकार, यच्चाविद्वांस्तस्य-
सर्वस्यैनसोऽवयजनमसि ॥ ६ ॥ ८ । १३ ।

❀

अपरेण चात्वालं यथास्वं चमसानुदकपूर्णपात्रानवमृशन्ति हरितकुशानवधाय ।

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायोऽनुमार्ष्टु तन्वो यद्विलिष्टम् ॥१॥ ८।१४।

वयं ब्रह्मवर्चसेन, क्षीरादिरसेन, अनुष्ठानक्षमैः शरीरावयवैः, समीचीनेन कर्म-श्रद्धायुक्तेन मनसा च सङ्गता भवाम । किञ्च-शोभनदानस्त्वष्टादेवो धनानि विदधातु । अथ शरीरस्यास्मदीयस्य यन्न्यूनमङ्गं, तत्परिपूरयत्वित्याह ॥

❀ इमानेव चमसान् पूर्णपात्रानेकेऽप्सुषोढा इत्याचक्षते । इति शातपथी श्रुतिः ।



॥ अथ नव समिष्टयजूंषि ॥





नवभिर्मन्त्रैः समिष्टयजुःसंज्ञा नवाहुतीर्जुहुयात् ।

समिन्द्र णो मनसा नेषि गोभिः
सं सूरिभिर्मघवन् सं स्वस्त्या ।
सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति
सं देवानां सुमतौ यज्ञियानां—स्वाहा ॥ १ ॥ ८ १५ ।

सं वर्चसा पयसा सं तनूभि
रगन्महि मनसा सं शिवेन ।
त्वष्टा सुदत्रो विदधातु रायो
ऽनुमार्ष्टु तन्वो यद् विलिष्टम् ॥ २ ॥ ८ । १६ ।

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां
प्रजापतिर्निधिपा देवो अग्निः ।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया सं रराणा
यजमानाय द्रविणं दधात—स्वाहा ॥ ३ ॥ ८ । १७ ।

सुगा वो देवाः सदना अकर्म
य आजग्मेदं सवनं जुषाणाः ।

भरमाणा वहमाना हवींष्य-
स्मे धत्त वसवो वसूनि-स्वाहा ॥ ४ ॥ ८ । १८ ।

याँ आवह उशतो देव देवां-
स्तान् प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे ।
जक्षिवांसः पपिवांसश्च विश्वे-
ऽसुं धर्म्मं स्वरातिष्ठतानु-स्वाहा ॥ ५ ॥ ८ । १९ ।
वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे अस्मिन्
अग्ने होतारमवृणीमहीह ।
ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः
प्रजानन् यज्ञमुपयाहि विद्वान्—स्वाहा ॥ ६ ॥ ८ । २० ।
देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥
मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वातेधाः । ७ ८ । २१ ।
यज्ञ यज्ञं गच्छ, यज्ञपतिं गच्छ, स्वां योनिं गच्छ, स्वाहा ।८।
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः
सर्ववीरस्तज्जुषस्व स्वाहा ६ । ८ । २२ ।

हे मघवन् ! हे इन्द्र ! यस्त्वमस्माननुग्रहेण वाग्भिर्गवादिपशुभिर्वा, पण्डितैर्होत्रादिभिः क्षेमेण, वेदेन, यज्ञकर्म्मणा, यज्ञसंबन्धिनां देवानामनुग्रहबुद्धया च संनयसि । तस्मै तुभ्यमेतद्धविः सुहुतमस्त्वित्याह ॥ १ ॥

वयं ब्रह्मवर्चसेन, क्षीरादिरसेन, विशिष्टशरीरावयवैः, प्रसन्नेन चेतसा च सङ्गता भवाम। किञ्च—दाता देवस्त्वष्टा धनानि ददातु। यदेव किञ्चिदस्मच्छरीरस्य यः क्षीणो भागस्तस्य क्षीणतां दूरीकरोत्वित्याह ॥ २ ॥

दानशीलो धाता च सविता च, निधिपालकः प्रजापतिश्चाग्निश्च, त्वष्टा च विष्णुश्चेदं दीयमानं हविः सेवन्ताम्। यजमानसम्बन्धिन्या सन्तत्या संरममाणास्ते यजमानार्थं धनं ददतु इत्याह ॥ ३ ॥

हे देवाः! ये यूयमिमं यज्ञं सेवमाना आगताः, तेषां युष्माकं स्थानानि सुखेन गन्तुं योग्यानि वयमकार्ष्म। इमानि च हवींषि पुष्णन्तो नयन्तश्च यूय वसवो देवा अस्मासु धनानि स्थापयतेत्याह ॥ ४ ॥

हे अग्ने! देव! हवींषि कामयमानान् यान् देवानाहूतवानसि। तान् तेषां स्वे स्वे सहवासस्थाने प्रस्थापय। यतः सर्वे यूयं देवाः सवनीयपशुपुरोडाशान् भक्षितवन्तः, सोमं पीतवन्तश्च अथेदानीं वायुमण्डलमादित्यमण्डलं द्युलोकं वा यथास्थानमनुसरतेत्याह ॥५॥

हे अग्ने! वयं खलु इह दिने स्थाने वा अस्मिन् यज्ञे प्रवर्तमाने त्वां होतारं वृतवन्तः। स त्वं यज्ञं समर्द्धयन्नयाक्षीः, समर्द्धयन्नेव च विघ्नशान्तिमकार्षीः॥ विद्वानसि। स इदानीं यज्ञं समाप्तमवगच्छन् त्वमपि स्वस्थानं गच्छेत्याह ॥ ६ ॥

हे यज्ञवेत्तारो देवाः! यज्ञं ज्ञात्वा यज्ञं गच्छत। यद्वा हे मार्गवेत्तारो देवाः! यज्ञं समाप्तं विदित्वा मार्गं गच्छत। हे मनसस्पते! प्रजापते! हे देव! इममनुष्ठितं यज्ञं त्वद्धस्ते दधामि। त्वं च तं वायुदेवे स्थापयेत्याह ॥ ७ ॥

हे यज्ञ! त्वं स्वप्रतिष्ठार्थं विष्णुदेवं गच्छ। फलप्रदानेन च यजमानं प्राप्नुहि। स्वनिष्पत्त्यर्थं च स्वकारणभूतां वायोः क्रियाशक्तिं गच्छेत्याह ॥ ८ ॥

हे यज्ञपते ! यजमान ! सोमः पशुः सवनीयचरुपुरोडाशा वीरा उच्यन्ते । तैः सहितः स्तोत्रैश्च सहितः सोऽयमनुष्ठीयमानो यज्ञस्त्वदीयोऽस्ति । तं यज्ञं फलभोगेन सेवस्व । इदं सुहुतमस्तु—इत्याह ॥ ९ ॥

॥ इति नव समिष्टयजूंषि ॥

॥ अथ अवभृथाभ्यवायः ॥

यजमानहस्तस्था कृष्णमृगविषाणा, मध्येबद्धा मेखला चेत्युभे विस्रंस्य चात्वाले भास्यति । हे रज्जो ! त्वम्—

मा हिर्भूर्मा पृदाकुः ।

सामान्यसर्पो मा भूः । अजगरो वा सर्पविशेषो मा भूरित्याह ॥

अथावभृथाय जिगमिषुरध्वर्य्युश्चात्वालसमीपस्थं प्राङ्मुखं यजमानं वाचयेत् ।

उरुं हि राजा वरुणश्चकार
सूर्य्याय पन्थामन्वेतवा उ ।
अपदे पादा प्रतिधातवेऽक
रुतापवक्ता हृदयाविधश्चित् ॥

यस्माद् वरुणो राजैव सूर्य्यस्यानुक्रमेणान्वहं गन्तुमपदेऽन्तरिक्षे विस्तीर्णं मार्गं चकार। तस्मादस्माकमप्यन्तरिक्षे पादौ निक्षेप्तुं स्वर्गगमनाय मार्गं करोतु। अपि च पिशुनादिदुर्जनस्यापि तिरस्कर्ता स वरुणोऽवभृथाय मार्गं ददात्वित्याह ॥

अवभृथस्नानार्थमपः प्रवेशयन् यजमान वाचयेत् —

नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाशः। ८। २३।

अप्सु समिध प्रक्षिप्य चतुर्गृहीतेनाज्येन तदुपरि जुहुयात्।

अग्नेरनीकमप आविवेशापांनपात् प्रतिरक्षन्नसुर्य्यम्।
दमे दमे समिधं यक्ष्यग्ने प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चरण्यत् स्वाहा।८।२४।

हे अग्ने! यस्य तवाग्नेरपांनपात्सञ्ज्ञं मुखं जलान्याविवेश, स त्वं तत्तद्यज्ञगृहे असुरैः कृतं यज्ञविघ्न निवर्त्तयन् समिन्धनसाधनं घृतं यज। ततस्तव जिह्वा ज्वालात्मिका घृतं प्रति उच्चरतु इत्याह ॥ १ ॥

गतसारः सोम ऋजीषः। तेन पूर्णं कुम्भमप्सु प्लावयति। हे सोम!

समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः सं त्वा विशन्त्वोषधीरुतापः ॥
यज्ञस्य त्वा यज्ञपते सूक्तोक्तौ नमो वाके विधेम यत् स्वाहा ॥ ८। २५।

यत्तव हृदयं समुद्रवद्बहुलोदकेषु मध्ये वर्त्तते। तत्र त्वां गमयामि ॥ तत्रस्थं त्वा मोषधयः संविशन्तु। अपि च–जलानि त्वां सविशन्तु ॥ हे यज्ञपालक! सोम! यज्ञस्य शोभनवचनोच्चारणे नमस्कारवचने च त्वां स्थापयामः। सुहुतमस्तु–इत्याह ॥ १ ॥

इत्यमृजीषकुम्भं विसृज्योपतिष्ठते।

देवीराप एष वो गर्भस्तं सुप्रीतं सुभृतं बिभृत ।
देव सोमैष ते लोकस्तस्मिञ्छं च वक्ष्व परि च वक्ष्व । ८ । २६ ।

हे देव्यः ! आपः ! एष सोमो युष्माकं गर्भस्थानीयः । तं साधुतर्पितं सुपुष्टं धारयत । हे सोम ! देव ! तवैष जललक्षणो लोकः । तस्मिन्नवस्थितस्त्वं सुखं वह तथा अस्मत्तः सर्वा आर्त्तीः परिवहेत्याह ॥

"तस्मिन्नः शं चैधि, सर्वाभ्यश्च न आर्तिभ्यो गोपाय" इति श्रुतिः ।४।४।५।२१॥

ऋजीषकुम्भं जलेमज्जयति ।

अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण ।
अवदेवै र्देवकृतमेनोऽयासिष—
मव मर्त्यैर्मर्त्यकृतं पुरुराव्णो देव रिषस्पाहि ॥

हे अवभृथ ! त्वं नितरां मन्दं गच्छ । यद्यपि त्वं नितरां चरणशीलोऽसि । तथाप्यत्र नितरां मन्दं गच्छ । यतो मदीयै रिन्द्रियैर्देवेषु हविःस्वामिषु कृतं पापं जलेऽवनीतवानस्मि । तथा मर्त्यैर्ऋत्विग्भिर्मर्त्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं पापमप्यवनीतवानस्मि । तद्यथा त्वां न प्राप्नुयादिति । हे देव ! अवभृथाख्य यज्ञ ! बहुविरुद्धफलदायिनो वधादस्मान् पालयेत्याह ॥

स्नानानन्तरमाहवनीयमेत्य तस्मिन् समिधमादध्यात् । हे काष्ठ ! त्वम्—

देवानां समिदसि । ८ । २७ ।

देवानामुद्दीपनमसीत्याह ॥ अस्माकं वा देवभूतानां समिन्धनं भवसीत्याह ॥

अथअनुबन्ध्याया गर्भिणीत्वे प्रायश्चित्तम् ।

यदि वशा गर्भिणी स्यात्तदा विशसने मातुः सकाशात् पृथक् क्रियमाणं गर्भमभि मन्त्रयेत—

"एजतु दशमास्यो गर्भो जरायुणा सह ।
यथाऽयं वायुरेजति यथा समुद्र एजति ।
एवाऽयं दशमास्यो अस्रज्जरायुणा सह" । ८ । २८ ।

दशमासकालावच्छिन्न इवायं गर्भो गर्भवेष्टनेन । सह चलतु । येन प्रकारेणाय वायुः प्रचलति, येन चायं समुद्रः प्रचलति, तथैवायमपि गर्भो दशमास्यभावेन जरायुणा समुद्रः निर्गच्छतु—इत्याह ॥

तमेत्तदप्यदशमास्यं सन्तं ब्रह्मणैव यजुषा दशमास्यं करोति—
इति श्रुतिः । ४ । ५ । २ । ४ ॥

वशावदानानि हुत्वा गर्भरक्तं जुहुयात् हे वशे !

"यस्यै ते यज्ञियो गर्भो यस्यै योनिर्हिरण्ययी ॥
अङ्गान्यह्रुता यस्य तं मात्रा समजीगमं—स्वाहा ॥१॥८।२९ ।

यस्यास्तव गर्भो यज्ञार्हः । यस्यास्तव योनिः सुवर्णमयी । तादृशीं त्वां गर्भेण सङ्गमयामि । यस्य च गर्भस्य अङ्गानि अकुटिलान्यखण्डितानि तं गर्भजनन्याऽनुबन्ध्या-रूपया सङ्गमयामीत्याह ॥

प्रचरण्यां स्रुचि प्रतिप्रस्थाता सर्वं गर्भरसमवदायाध्वर्युणा स्विष्टकृद्धोमे कृते सति जुहुयात् ॥

पुरुदस्मो विषुरूप इन्दुरन्तर्महिमानञ्ज धीरः ॥
एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं
भुवनानु प्रथन्ताम्–स्वाहा ॥ ८ । ३० ।

बहुदानो बहुरूपोऽन्तरुदरस्थो मेधावी चेत्येवं महत्वशीलः सोमः—सोमसदृशोऽयं गर्भो वा महत्त्व व्यक्तीकरोतु । तस्य गर्भस्य मातरमनुबन्ध्यां भुवनानि भूतजातान्यनु—वपयैकपदीं, वपयाऽङ्गैश्च द्विपदीं, मुखयड्ढोमैस्त्रिपदीं, पत्नीसंयाजैश्चतुः पदीं, स्वपादैर्गर्भ-पादैश्चाष्टापदीं गणयित्वा प्रख्यातां कुर्वन्तु । सुहुतमस्त्वित्याह ॥

समिष्टयजुर्होमान्ते शामित्राग्नावेव स्वाहान्तेन मन्त्रेणोष्णीषवेष्टितं गर्भं जुहोति । मन्त्रान्ते स्वाहाकारमनुच्चार्य जुहुयात् ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः ।
स सुगोपातमो जनः ॥ ८ । ३१ ।

द्युलोकसम्बन्धिना विशिष्टेन तेजसा युक्ताः ! यद्वा–द्युलोकस्य पूजयितारः ! हे मरुतः ! यस्य यजमानस्य यज्ञगृहे यूयं सोमपान कुरुथ । निश्चितं स जनः अत्यन्तोत्तम-रक्षकयुक्तो भवतीत्याह ॥

शामित्रे क्षिप्तं गर्भमङ्गारैश्छादयेत् ॥

मही द्यौः पृथिवी च न इमं यज्ञं मिमिक्षताम् पिपृतां नो भरीमभिः ॥८।३२॥

महती द्यौरियं पृथ्वी चास्माकमिमं यज्ञं स्वैः स्वैर्भागैः सेक्तुमिच्छताम् । भरणै-र्हिरण्यपशुधान्यादिभिश्चास्मदीयं गृह पूरयतामित्याह ॥

॥ ❀ ॥ इत्यग्निष्टोमाधिकारः ॥ (१) ॥ ❀ ॥

॥ अथ षोडशी स्तोमः ॥



प्रातःसवने आग्रयणग्रहणानन्तरमाग्नेयमतिग्राह्यमादाय चतुःकोणेन खादिरोलूख-लेन षोडशिग्रहं गृह्णीयादनेन ।

आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी ।
अर्वाचीनं सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ १ ॥ ८ । ३३ ।

हे वृत्रहन् ! इन्द्र ! तव हरितवर्णावश्वौ मन्त्रेण रथे संयुक्तौ । अतस्त्वं रथमारोह । सोमाभिषवपाषाणो रथारूढस्य तव मनोऽस्मद्यज्ञाभिमुखं श्रवणीयेन सोमाभिषवशब्देन सुतरां करोतु इत्याह ॥ हे सोम ! षोडशस्तोत्रवते इन्द्राय त्वां गृह्णामि । तस्मै च त्वां सादयामीत्याह ॥ १ ॥

अथवा अनेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात् ।

युक्ष्वा हि केशिना हरी वृषणा कक्ष्यप्रा ।
अथा न इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ १ ॥ ८ । ३४ ।

हे इन्द्र ! प्रलम्बकेसरौ, सेक्तारौ तरुणौ वा, तथा स्थूलावयवत्वा दश्वसन्नाहरज्ज्-

पूरकौ त्वदीयौ हरितवर्णाश्वौ निश्चितं रथेन संयोजय ॥ तदनन्तरं सोमपान कुर्वन् अस्मदीयानामृग्यजुः सामलक्षणानां वाचामुपश्रवणं प्राप्नुहीत्याह ॥ १ ॥

अथवा अनेन षोडशिग्रहं गृह्णीयात्—

इन्द्रमिद्धरी वहतोऽप्रतिधृष्टशवसम् ॥
ऋषीणां च स्तुतीरुप यज्ञं च मानुषाणाम् ॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिने ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिने ॥ ८ ॥ ३५ ।

हरितवर्णाश्वौ यस्य बल प्रतिधर्षयितुमशक्यं तमिन्द्रमेव वसिष्ठादीनां मुनीनां स्तुतिसमीपे यजमानानां यज्ञसमीपे च प्रापयत इत्याह ॥ १ ॥

षोडशिग्रहमुपतिष्ठते ॥

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति
य आविवेश भुवनानि विश्वा ॥
प्रजापतिः प्रजया संरराणस्—
त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी ॥ २ ॥ ८ । ३६ ।

यस्मादन्यः संभूत उत्कृष्टो न विद्यते । यश्च सर्वाणि भूतजातानि प्रविष्टवान् । स प्रजापतिः अग्निवायुसूर्य्यलक्षणानि त्रीणि तेजांसि सेवते । प्रजारूपेण सम्यग् रममाणश्च । स षोडशकलात्मकलिङ्गशरीरोपहितः परब्रह्मरूप इत्याह ॥

अथ षोडशिग्रहं भक्षयति । हे षोडशिग्रह !

इन्द्रश्च सम्राड् वरुणश्च राजा
तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् ॥
तयोरहमनु भक्षं भक्षयामि—
वाग्देवी जुषाणा सोमस्य तृप्यतु
सह प्राणेन स्वाहा ॥ ८ ॥ ३७ ।

वाजपेययाजी इन्द्रः—राजसूययाजी वरुणः—एतौ देवौ तव एतं सोमं प्रथमं भक्षं चक्रतुः । तयोरिन्द्रावरुणयोर्भक्षणोत्तरमहं सोमं पिबामि । तेन मदीयेन भक्षेण सेवमाना सरस्वती प्राणदेवतया सह सोमेन तृप्ता भवतु । सुहुतमस्तु—इत्याह ॥

"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति सम्राड् वाजपेयेन" इति श्रुतिः ५ । १ । १ । १३ ॥

इति षोडशि यागसम्बन्धिनो मन्त्राः ॥

इति षोडशियागाधिकारो द्वितीयः ॥ २ ॥



॥ * ॥ अथ द्वादशाहः ॥ * ॥



अस्ति कश्चित् पृष्ठ्यः षडहाख्यः क्रतुः । स च षड्भिरहोभिर्निष्पाद्यते । तत्र पूर्वस्मिन्नहस्त्रये अतिग्राह्यग्रहग्रहणमन्त्रास्तत्तद्ग्रहशेषभक्षणमन्त्राश्च क्रमेणात्र दर्श्यन्ते । तथा च प्रथम तावदतिग्राह्यग्रहं गृह्णीयादनेन—

(१) अग्ने पवस्व स्वपा अस्मे वर्चः सुवीर्य्यम् ।
दधद्रयिं मयि पोषम् ॥
उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चसे ॥
एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चसे ॥ ८ । ३७।

हे अग्ने ! सुकर्म्मा त्वमस्मासु शोभनसामर्थ्योपेतं ब्रह्मवर्चसं प्रापय । मयि यजमाने धनं धारयन् पुत्रपश्वादिसमृद्धिं प्रवर्त्तयेत्याह ॥ हे सोम ! तेजस्विनेऽग्नये त्वां गृह्णामि सादयामि चेत्याह ॥ १ ॥

अथैनं भक्षयति—

अग्ने वर्चस्विन् वर्चस्वांस्त्वं देवेष्वसि ।
वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ १ ॥ ८ । ३८ ।

हे विशिष्टतेजोयुक्त ! अग्ने ! त्वमिन्द्रादिदेवगणमध्येऽतिदीप्तिमानसि । त्वत्प्रसादादहमपि मनुष्यलोकमध्ये ब्रह्मवर्चससम्पन्नो भवेय मित्याह ॥

(२) अथ द्वितीयम् अतिग्राह्यग्रह गृह्णीयादनेन—

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः ॥
सोममिन्द्र चमूसुतम् ॥२॥
उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसे ॥
एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे ॥

हे इन्द्र ! अधिषवणचर्म्मणि अभिषुत सोम पीत्वा त्वं बलेन सहोत्तिष्ठन् हनू-नासिके वा कम्पितवानसि—इत्याह ॥

अथैनं भक्षयति—

इन्द्रौजिष्ठौजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि ।
ओजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् । ८ । ३९ ।

(३) अथ तृतीयमतिग्राह्यग्रहं गृह्णीयादनेन ।

अदृश्रमस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ२॥ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥
उपयामगृहीतोऽसि सूर्य्याय त्वा भ्राजाय ॥
एष ते योनिः सूर्य्याय त्वा भ्राजाय ॥

अस्य सूर्य्यस्य सर्वपदार्थज्ञानहेतवः किरणाः सर्वजनानुगता अदृश्यन्त । यथा ज्वलन्तो वह्नयो दृश्यन्ते तद्वदित्याह ॥

अथैनं भक्षयति ।

सूर्य्य भ्राजिष्ठ भ्राजिष्ठस्त्वं देवेष्वसि ।
भ्राजिष्ठोऽहं मनुष्येषु भूयासम् ॥ ८ । ५० ।

इति द्वादशाह गता मन्त्राः पूर्णाः ॥

इति द्वादशाहाधिकार स्तृतीयः ॥ ३ ॥

इति अग्निष्टोमः, षोडशी, द्वादशाहः—

इत्यधिकारत्रयघटितो ज्योतिष्टोमपरिच्छेदो द्वितीयः समाप्त. ॥

